

श्री ०
८९



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२५, जून १९६८

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-नारदको विराटरूप-दर्शन [कविता]	९५७	१२-जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता [प्राणायाम]	
२-कल्याण ('शिव')	९५८	(गुरु श्रीरामप्यारेजी अग्निहोत्री)	९९०
३-ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रीजयदयालजी		१३-श्यामका स्वभाव—४ (श्रीसुदर्शन-	
गोयन्दकाके अमृतोपदेश (आपके एक		सिंहजी)	९९३
पुराने प्रवचनके आधारपर लिखित) ...	९५९	१४-ज्ञान-विवेक-विनाशिनी ममता (श्री-	
४-वैदिक उपासना (श्रीमनोहरजी		सुरेशजी प्रभाकर)	९९७
विद्यालंकार)	९६६	१५-श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी विड़लाके	
५-परम स्वतन्त्रकी परतन्त्रता [कविता]	९७१	जीवनकी कुछ सत्य घटनाएँ (पं०	
६-स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते (गङ्गातटवासी		श्रीदेवधरजी शर्मा)	९९९
तपस्वी श्रीमस्तराम बाबाजीका एक		१६-श्रीमद्भैरवोपासना (डॉ० श्री-	
प्रवचन, प्रेषक-श्रीयुत रतनलालजी)	९७२	भवानीदासजी मेहरा)	१००१
७-प्रभुकी वस्तुसे प्रभुकी पूजा करते रहो		१७-यशोपवीत—राष्ट्रीय एकता, उत्कर्ष	
[कविता]	९७६	एवं सदाचारका सूत्र (श्रीदेवनारायणजी	
८-वेणुगीत (श्री 'श्रीकृष्णप्रेमी' महाराज-		भारद्वाज)	१००४
विरचित एवं श्रीयुत टी० सी०		१८-कामके पत्र	१००६
श्रीनिवासनद्वारा अनूदित)	९७७	१९-एकान्त-आश्रय [कविता] (श्री-	
९-मुरलीधरकी मुरली [कविता]	९८३	रामनारायणजी मिश्र, एम्० एस्-सी०)	१००८
१०-संत श्रीज्ञानेश्वरका गीतातत्त्व-विवेचन		२०-चर्वीरहित साबुन बनानेवालोंके नाम-	
(श्रीयुत आत्माराम शास्त्री, साहित्य-		पते	१००९
सुधाकर, साहित्यदर्शनाचार्य)	९८४	२१-पढ़ो, समझो और करो	१०१३
११-मित्र कौन ? शत्रु कौन ? (डा०		२२-'कल्याण'का 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क'	
श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०,		विशेषाङ्क	१०१६
पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शन-			
केसरी)	९८७		

चित्र-सूची

१-कीर्तन-रस-मत्त देवर्षि

२-नारदको विराटरूप-दर्शन

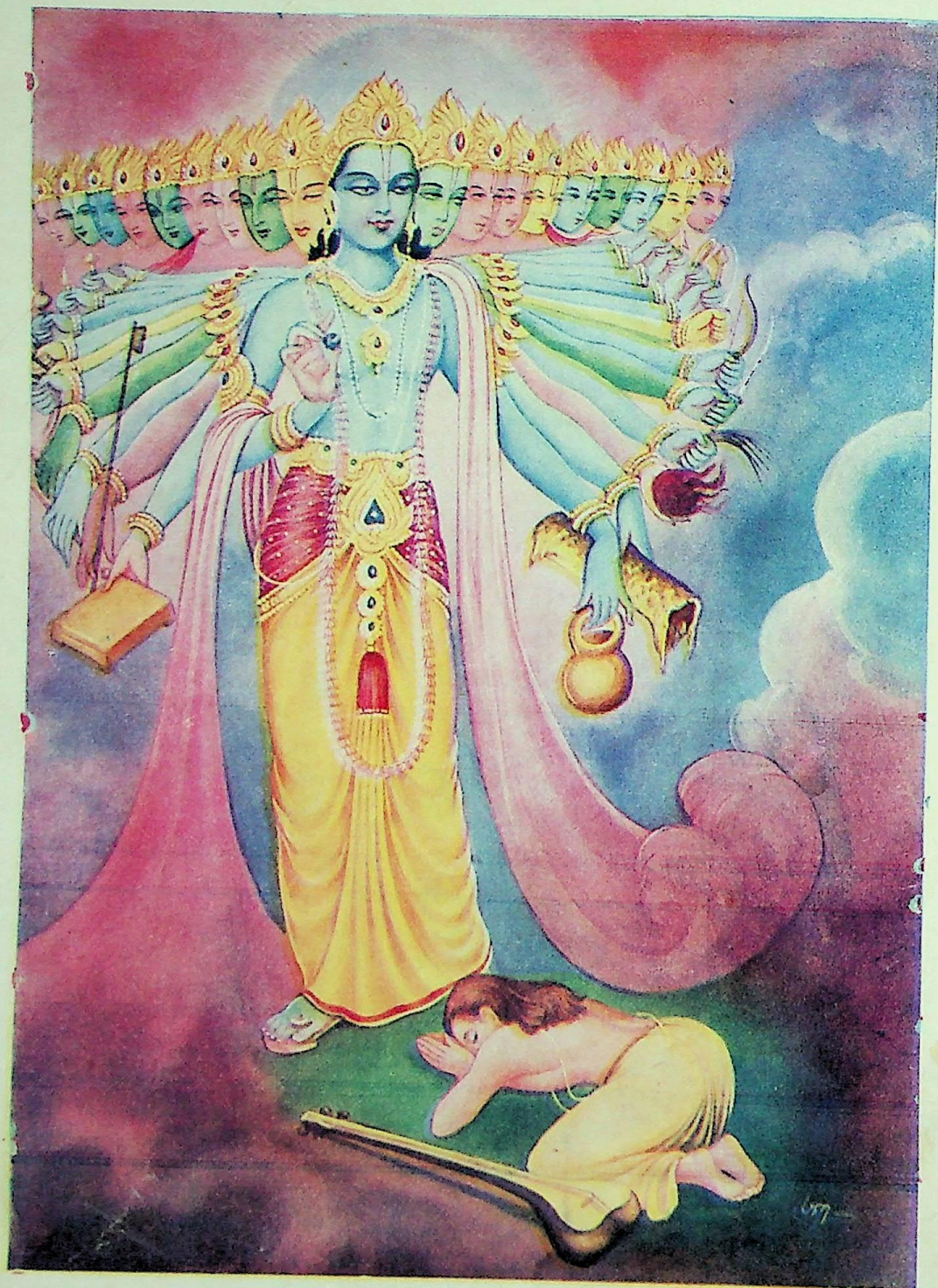
(रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ

(तिरंगा) ... ९५७

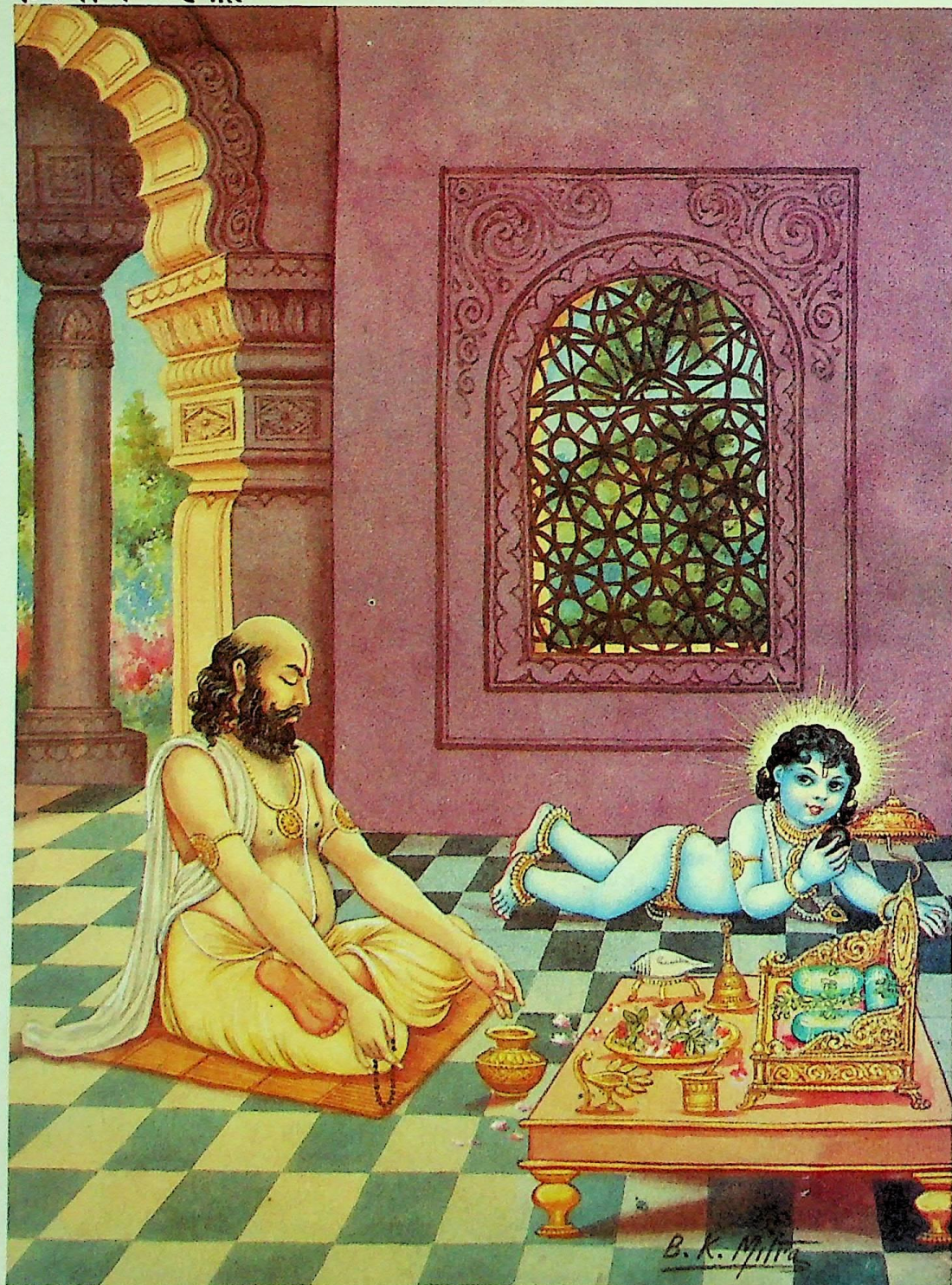
वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे
विदेशमें १३.३५ (१५ शिल्लिंग) } विदेशमें ८० पैसे (१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



नारदको विराटरूप-दर्शन



शालग्राम मुखमें



शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

वर्ष ६१ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, नवम्बर १९८७ ई० { संख्या ११
पूर्ण संख्या ७३२

लीलाधरकी लीला

हँसत गोपाल नंद के आगें, नंद सरूप न जान्यौ ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ ॥
एक समय पूजा के अवसर, नंद समाधि लगाई ।
सालिग्राम मेलि मुख भीतर, बैठि रहे अलगाई ॥
ध्यान विसर्जन कियो नंद जब, मूरति आगें नाहीं ।
कह्यौ गोपाल देवता कह भयौ, यह विसमय मन माहीं ॥
मुख तैं काढ़ि तबै जदुनंदन, दियो नंद के हाथ ।
सूरदास स्वामी सुख-सागर खेल रच्यौ ब्रज-नाथ ॥

कल्याण

याद रखो—जिसके हृदयमें सदा सत्य, न्याय, प्रेम, क्षमा, धैर्य, ईमानदारी, संतोष, शान्ति, त्याग और आनन्दके शुभ भाव विराजते—क्रीड़ा करते हैं, उसका जीवन भी वैसा ही बन जाता है। इसलिये निरन्तर इस प्रकारके शुभ विचारोंका ही चिन्तन करो।

याद रखो—जबतक अशुभ विचार—मिथ्या, अन्याय, द्वेष, क्रोध, लोभ, असहिष्णुता, बेईमानी, अशान्ति, भोगलालसा, विवाद आदि हृदयमें वर्तमान हैं, तबतक मनुष्य कभी सुखी और पवित्र-जीवन नहीं हो सकता। अतः इन्हें हृदयसे निकाल दो, परंतु 'इन बुरे विचारोंको हृदयसे निकालना है'—इस प्रकारसे भी इनका यदि बार-बार चिन्तन होगा तो ये हृदयसे निकलेंगे नहीं और भी प्रगाढ़ हो जायँगे। 'चौथका चाँद नहीं देखना है'—इसका बार-बार स्मरण करनेसे वह अवश्य देखा जाता है। 'नहीं देखना है'—यह बात यदि याद ही नहीं आती तो कोई भी चाँद नहीं देखता। इस मकानमें रातको भूत आता है, ऐसी बात बार-बार याद रहनेपर बिना हुए भी भूतका डर लगने लगता है। जिसे भूतकी कल्पना नहीं है, उसे भूतका डर नहीं लगता। इसी प्रकार अशुभ विचारोंको निकालनेकी दृष्टिसे भी उनका बार-बार चिन्तन होगा तो वे नहीं निकलेंगे।

याद रखो—अशुभ विचारोंको निकालकर शुभ विचारोंको लाना है तो अशुभको निकालनेकी बात न सोचकर शुभका चिन्तन आरम्भ कर दो। जगत्के प्रपञ्चोंके और संसारके पापों एवं बुराइयोंके बदले भगवान्की मङ्गलमयता, कल्याण-स्वरूपता, दयालुता, प्रेम, भक्तवत्सलता, महत्ता, सत्यस्वरूपता, शान्तिमयता, आनन्दमयता, निष्कामता, परिपूर्णता, सर्वहितैषिता, समता आदि महान् दिव्य गुणोंका स्मरण करने लो। भगवान्के तत्त्व-रहस्यका मनन तथा विचार आरम्भ कर

दो। उनकी मधुर मनोहर जीला-कथाओंका श्रवण, गायन, चिन्तन करने लो। उनके अतुलनीय माधुरीसे परिपूर्ण परम सुन्दर सुधावर्षी मुनिमनमोहक स्वरूपके ध्यानका अभ्यास आरम्भ कर दो, फिर अशुभ विचार अपने-आप ही नष्ट हो जायँगे।

याद रखो—शुभको लानेके लिये भी अशुभका स्मरण मत करो। अशुभका स्मरण ही अशुभको जीवित और प्रतिष्ठित रखता है।

याद रखो—कल्याणमय भगवान् महान् अनन्त दिव्य गुणोंके भण्डार हैं। उनका एक-एक गुण इतना पवित्र, इतना विशाल, इतना मङ्गलमय और इतना प्रभावशाली है कि उसका स्मरण तथा अनुशीलन आरम्भ हो जानेपर सद्विचार तथा सदगुणोंके समूह अपने-आप ही आने लगेंगे।

याद रखो—सारा जगत् भगवान्से निकला है और इसमें सर्वत्र केवल भगवान् ही भरे हैं। भगवान् सर्वथा कल्याणमय सदगुणसमुद्र हैं। अतः जगत्में भी सर्वत्र सर्वथा कल्याणमय गुणसमूह ही भरे हैं। तुम्हारी आभ्यन्तरिक आँखें तमोमयी तथा अशुभदर्शनशील हैं, इसलिये तुम्हारा मन निरन्तर अशुभका क्रीड़ाप्राङ्गण बन रहा है। रात-दिन अशुभके समूह ही उसमें धमाचौकड़ी मचाते रहते हैं। इन्हें यों ही रहने दो, इन्हें निकालनेकी बात मत सोचो। बस, लगनके साथ मङ्गलमय भगवान्की मङ्गलमयता तथा उनकी सदगुणावलीको देखना आरम्भ कर दो। जब उनकी मङ्गलमयी सदगुणावलीको हृदयमें स्थान मिल जायगा, तब अशुभ विचार वैसे ही तुरंत विलीन और नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार विलीन और नष्ट हो जाता है।—'शिव'

मनोबोध—१५

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

तबे द्रौपदीकारणें लगवें ।
 त्वरें धांवतो सर्व सांडुनि मागें ॥
 कळीलामि जाला असे बौद्ध मौनी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥१२४॥

जो उस द्रौपदीके कारण सब कुछ छोड़कर दौड़ पड़े तथा कलियुगमें जो मौनी बुद्ध हो गये, वे भक्ताभिमानी भगवान् भक्तोंकी उपेक्षा कभी नहीं करते । [द्वापर युगके महाभारतकालमें द्रौपदीकी प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण दौड़ पड़े, यह अवतार धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही थे, जो सब कुछ छोड़ द्रौपदीकी रक्षा करनेके लिये दौड़ते हुए कौरव-सभामें उपस्थित हुए । कलियुगमें जो गौतम बुद्धके रूपमें अवतरित हुए, वे भगवान् विष्णु भक्तोंके अभिमानी हैं और भक्तोंकी उपेक्षा कभी नहीं करते ।]

विशेष—श्रीसद्गुरु समर्थ रामदास स्वामीके 'मनाचे श्लोक'के अर्थात् इन्हीं 'मनोबोध'के श्लोकोंके मराठी-निरूपण 'सार्थ मनाचे श्लोक' नामक पुस्तकमें जो श्री के० वि० बेलसरे नामक समर्थ भक्तद्वारा किया गया है, उसमें इसी श्लोकके निरूपणमें उन्होंने कहा है कि उपर्युक्त श्लोकके 'बौद्ध' शब्दका सम्बन्ध 'गौतम बुद्ध'से नहीं है; किंतु यह उचित प्रतीत नहीं होता । श्रीसमर्थ सद्गुरुने दसों अवतारोंका उल्लेख जब श्लोकोंमें किया, तब केवल बुद्धको वे कैसे छोड़ देंगे; जब कि बुद्धदेव समर्थ स्वामीसे लगभग १००० वर्ष पूर्व अवतीर्ण हुए थे । मराठीके व्यंकटेश-स्तोत्रमें भी 'बौद्ध कलंकी निज-मूर्ति' कहा गया है । श्रीसमर्थ स्वामी रामदासजीसे पूर्व ही इस स्तोत्रकी रचना हो चुकी थी । गौतम बुद्धजीने यज्ञमें की जानेवाली व्यर्थ जीवहत्या रोकनेके हेतु कार्य किया; तत्पश्चात् उन्होंने 'सबको निर्वाणपदकी प्राप्ति हो'

अतः अधिकार न देखते हुए सबको संन्यास-ग्रहणकी छूट दे दी, इसलिये तत्कालीन ज्ञानियोंने उनका कठोर विरोधकर उन्हें मौन धारण करनेपर बाध्य किया, अतः श्रीसमर्थ सद्गुरुने उनका उल्लेख अपने 'मनाचे श्लोक'के उक्त श्लोकमें 'कळीलामि जाला असे बौद्ध मौनी' कहकर किया है ।

अनाथां दिनांकारणें जन्मताहे ।
 कलंकी पुढें देव होणार आहे ॥
 तथा वर्णितां क्षीणली वेदवाणी ।
 नुपेक्षी कदा देव भक्ताभिमानी ॥१२५॥

जो अनाथ दीन-दुखियोंके लिये जन्म ग्रहण करते हैं, वे कलंकीके रूपमें अवतार लेंगे । जिनका वर्णन करते हुए वेदवाणी थककर 'नेति-नेति' कहने लगी, ऐसे भक्ताभिमानी भगवान् भक्तकी उपेक्षा कभी नहीं करते ।

जनांकारणें देव लीलावतारी ।
 बहूतांपरी आदरें वेषधारी ॥
 तथा नेणती ते जन पापरूपी ।
 दुरात्मे महानष्ट चांडाल पापी ॥१२६॥

भक्तजनोंके लिये भगवान् लीला-अवतारी होकर नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं, उसे जो जन नहीं जानते, वे साक्षात् पापरूप हैं, दुरात्मा हैं, महान् नष्ट (दुष्ट) चाण्डाल तथा पापी हैं ।

जगीं धन्य तो रामसूखें निवाला ।
 कथा ऐकतां सर्व तल्लीन जाला ॥
 देहेभावना रामबोधें उडाली ।
 मनोवासना रामरूपीं बुडाली ॥१२७॥

जगमें धन्य वे हैं, जो श्रीराम-सुखमें शान्ति प्राप्त करते हैं तथा तल्लीन होकर श्रीराम-कथा सुनते ही, सर्वरूपेण श्रीरामबोध होते ही जिनकी देहभावना उड़ गयी

और मनकी वासना श्रीरामरूपमें डूब गयी—श्रीरामरूपमें तल्लीन हो गयी ।

मना वासना वासुदेवीं वसों दे ।

मना कामना कामसंगीं नसों दे ॥

मना कल्पना वाङ्गी ते न कीजे ।

मना सज्जना सज्जनीं वस्ति कीजे ॥१२८॥

हे मन ! वासनाको सदैव वासुदेव भगवान्में ही रहने दो, कामनाको कामसङ्गमें न रहने दो, व्यर्थ कल्पनाका त्याग करो तथा सर्वदा सत्सङ्गमें ही वास किया करो ।

गतीकारणें संगती सज्जनाची ।

मती पालटे सूमती दुर्जनाची ॥

रतीनायिकेचा पती, नष्ट आहे ।

म्हणोनी मनातीत होऊनि राहे ॥१२९॥

प्रगतिके लिये संत-संगति करनी चाहिये । इससे दुर्जनकी भी मति बदलकर सन्मति हो जाती है । रति नायिकाका पति कामदेव नष्ट हुआ है, अतः मनातीत उन्मनी-अवस्थामें रहा करो ।

मना अल्प संकल्प तोही नसावा ।

सदा सत्यसंकल्प चित्तीं वसावा ॥

जनीं जल्प वीकल्प तोही त्यजावा ।

रमाकांत एकांतकाळीं भजावा ॥१३०॥

हे मन ! अल्प संकल्प त्यागना चाहिये । सत्य संकल्प चित्तमें रहना चाहिये । मनुष्यको विकल्प उत्पन्न करनेवाला वादविवाद त्यागना चाहिये । विकल्प-हीन होकर रमाकान्तका एकांतमें भजन करना चाहिये ।

भजाया जनीं पाहतां राम एकू ।

करीं बाण एकू सुखीं शब्द एकू ॥

क्रिया पाहतां उद्धरे सर्व लोकू ।

धरा जानकीनायकाचा विवेकू ॥१३१॥

भजन करनेके योग्य यदि खोजकर देखा जाय तो अकेले श्रीराम ही हैं, जिनके हाथमें एक ही बाण है,

मुखमें एक ही शब्द है, किया सब लोकोंका उद्धार करनेवाली है । इस प्रकार आचार-विचार और कर्म-शब्दकी एकरूपता जिनमें है, उन जानकीनाथका विवेक धारण करो ।

विचारुनि बोले विवंचुनि चाले ।

तयाचेनि संतप्त तेही निवाले ॥

वरें शोधिल्यावीण बोलों नकोहो ।

जनीं चालणें शुद्ध नेमस्त राहो ॥१३२॥

विचार करके बोलना चाहिये । खोज-बीन करके आचरण करना चाहिये । उससे जो अन्तरमें संतप्त हैं, वे भी शान्त हो जाते हैं । बिना विचार किये मत बोलो । मनुष्यको शुद्ध और निश्चित आचरण करना चाहिये ।

हरीभक्त वीरक्त विज्ञानराशी ।

जेंणें मानसीं स्थापिलें निश्चयासी ॥

तया दर्शनें स्पर्शनें पुण्य जोडे ।

तया भाषणें नष्ट संदेह भोडे ॥१३३॥

विरक्त हरिभक्त विज्ञान-स्वरूप होता है । जिसने (मैं ब्रह्म हूँ—इस) निश्चयको मनमें स्थिर किया है, उसके दर्शन तथा स्पर्शसे पुण्य बढ़ता है । उसके सम्भाषणसे दुष्ट संदेह नष्ट होता है ।

[श्रीरामका भक्त आत्मारामकी ज्ञानप्राप्तिमें अनुरक्त होता है, आत्मज्ञान-प्राप्तिका प्रेमी होता है और उसे मायामय संसारसे वैराग्य होता है । हरिभक्तके दर्शन एवं स्पर्शसे महान् पुण्यराशिका संचय होता है तथा उसके साथ सम्भाषण करनेसे मनका संदेह नष्ट होता है ।]

(क्रमशः)

(अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले)

भगवान् सबका उद्धार करते हैं

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारके सभी मनुष्य सुख चाहते हैं; किंतु वास्तविक सुखके लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करते। रुपयोंके लिये जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना भगवान्के लिये किया जाय तो भगवान् मिल जायँ, किंतु बड़े दुःखकी बात है कि हम नहीं करते। श्रद्धाकी कमीके कारण ही भगवत्साक्षात्कारमें इतना विलम्ब हो रहा है। बहुतसे भाइयोंका तो भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास ही नहीं है। जिन थोड़ोंका है भी, वे समझते हैं कि भगवान् मिलते हैं या नहीं। कुछ सोचते हैं— मिलते तो हैं, परंतु हमें मिलेंगे या नहीं। हम सबको यह विश्वास करके मानना चाहिये कि भगवान् हैं, अपने भक्तोंको मिले हैं, वर्तमानमें भी मिलते हैं और हमें भी मिल सकते हैं। भगवान्के यहाँ किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है। श्रद्धाकी कमीके कारण हमलोग प्रयत्न नहीं करते। परमात्माके प्राप्त होनेपर ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। सांसारिक विषय-भोगोंका सुख तो दुःखमिश्रित, विनाशशील एवं क्षणभङ्गुर है। परमात्माकी प्राप्तिसे होनेवाला सुख वास्तविक एवं महान् सुख है। भगवान् कठिन हैं, किंतु उनके दर्शन बहुत सरलतासे हो सकते हैं। फिर कलियुगमें तो और सरलतासे दर्शन होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

कलियुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।

गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

कलियुगके समान कोई युग नहीं है यदि मनुष्यको विश्वास हो तो। इसमें केवल भगवान्के गुण-गान करनेसे मनुष्य संसार-सागरसे सहज पार हो जाता है; क्योंकि भगवान् पतितपावन हैं। वे हमारे दोषोंकी ओर कभी दृष्टि ही नहीं डालते। वे तो केवल प्रेम देखते हैं—

रामहिं केवल प्रेम पिआरा । जानि लेउ जो जाननिहारा ॥

भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होनेपर वे बहुत शीघ्र मिल सकते हैं। भगवान्के दर्शन हो गये तो सब काम हो गये। जो कठिन समझता है उसके लिये विश्वासकी कमीके कारण कठिनता है। जो अतिशय पापी एवं मूर्ख है और उसकी आज ही मृत्यु होनेवाली है तो उसे आज ही भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(१।३०-३१)

जो मूर्ख है किंतु प्रेमपूर्वक भजन करता है तो भगवान् उसे बुद्धियोग दे देते हैं, जिससे उसका कल्याण हो जाता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १०।१०)

तो फिर प्रश्न हो सकता है—‘जो महान् मूर्ख हैं, योग, ज्ञान, भक्ति, तप, स्वाध्याय कुछ भी नहीं जानते, उनका भी कल्याण हो सकता है क्या ?’ इसके उत्तरमें भगवान्ने उनके कल्याणका भी उपाय बताया है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपास्ते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(गीता १३।२५)

इस प्रकारके महामूर्ख भी अन्य साधु-संतों एवं जानकारोंसे भगवान्की कथा एवं स्वरूपादि सुन-जानकर यदि मेरी उपासना करते हैं तो वे भी मुननेके परायण हुए भक्तलोग संसार-सागरसे तर जाते हैं। इसलिये

यह सिद्ध हो गया कि अतिशय पापी एवं अतिशय मूर्खका भी बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है। जिसकी आज ही मृत्यु होनेवाली है, उसका भी आज ही कल्याण हो सकता है; यदि वह मरते समय भगवान्‌का नाम ले तो। भगवान्‌ कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८।५)

जो अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। इसमें कोई संशय नहीं है।' इससे भगवान्‌ बहुत सुगम हैं। कैसा भी पापी, नीच, मूर्ख क्यों न हो, भगवान्‌ उसके अवगुणोंकी ओर नहीं देखते। भगवान्‌ उसका तुरन्त कल्याण कर देते हैं। भक्तजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे मन भरोस इद सोई। मिलिहिहि राम सगुन सुअ होई ॥

उस समय भक्तजीकी दाहिनी भुजा और आँख फड़क रही थी। इसलिये चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न हो, भगवान्‌ उसे भी मिल सकते हैं—इस बातपर विश्वास करके-लक्ष्य करके भगवान्‌के शरणागत हो जाय। उनकी शरण हो जानेपर पापका समूल नाश हो जाता है एवं सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं। भगवान्‌ अपने भक्तोंको बार-बार हिम्मत बँधाते हैं कि चिन्ता मत करो और सांसारिक विषय-भोगोंसे प्रेम हटाकर मुझमें मनको लगाओ। बड़ा सीधा मार्ग है।

तीर्थोंमें किसलिये आना हुआ है? तपस्या, ईश्वर-भक्ति, सद्गुणोंके संप्रद्वेके लिये एवं अन्य उत्तम आचरण करनेके लिये। इस प्रकार साधन करनेसे आत्माकी शुद्धि होती है। फिर भगवत्साक्षात्कार हो जाता है।

साक्षात्कार होनेपर शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होती है, जो आनन्द सदा कायम रहता है। इसलिये तीर्थोंमें फालतू कामोंमें समय त्रिलकुल नहीं बिताना चाहिये। तीर्थोंमें पाप एवं पुण्य जो भी किये जाते हैं, वे महान्‌ बन जाते हैं। जिस प्रकार महापुरुषोंकी सेवा करनेसे महान्‌ फलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार महापुरुषोंका अपमान करनेपर महान्‌ पाप लगता है। जिस प्रकार गङ्गा-स्नान करनेसे महान्‌ फलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार गङ्गाजीका तिरस्कार करनेसे महान्‌ पाप लगता है। इसलिये गङ्गाजीका जब टट्टी-पेशाबके काममें नहीं लाना चाहिये। गङ्गाजीमें मल-मूत्रके पश्चात् हाथ न धोवे। गङ्गाजीमें मुँह धोना एवं दतुवन नहीं करना चाहिये। गङ्गा-स्नान करते समय यदि पुष्प हो तो पहले पुष्प चढ़ाकर अथवा गङ्गाजीको प्रणाम करके गङ्गाजलको सिरपर चढ़ाकर, आचमन करके तब स्नान करना चाहिये। यदि हम गङ्गाजीका आदर करेंगे तो गङ्गाजी हमारा आदर करेंगी—यह जब हमारा उद्धार कर देगा। इसी तरह मन्दिरोंमें जब देवताओंके दर्शन करने जाओ तो पत्र, फल, पुष्प, जल आदि ले जाना चाहिये। इससे देवता प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌ श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(१।२६)

‘पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी मुझे प्रेमसे देता है, इस प्रकारके भक्तका दिया हुआ प्रसाद मैं ग्रहण करता हूँ—खाता हूँ।’ कोई पूछे कि भगवान्‌ ये सब खाते हुए प्रत्यक्ष तो दिखलायी नहीं पड़ते सो यह अपने प्रेम और श्रद्धाकी कमी है। फिर उनके लिये जो अर्पण किया जाता है, उसे वे स्वीकार तो कर ही लेते हैं। इसलिये भगवान्‌के निमित्त यदि थोड़ा भी अर्पण किया जाय तो उसे श्रद्धासे

करना चाहिये। भगवान् रुपयों-पैसोंसे प्रसन्न नहीं होते। वे प्रेम और श्रद्धासे प्रसन्न होते हैं। गजेन्द्रने केवल एक पुष्प चढ़ाकर भगवान्को प्रसन्न कर लिया। अतः एक भी पुष्प भगवान्को चढ़ाना बहुत है। आवश्यकता है श्रद्धा और प्रेमकी। जिस प्रकार भीलनीने बेर खिलाकर भगवान्को प्रसन्न कर लिया था एवं राजा रन्तिदेवने तो केवल पानी पिलाकर ही भगवान्को प्रसन्न कर लिया था।

इसी प्रकार विरक्त साधु-महात्माओंका सङ्ग करना चाहिये। यद्यपि इस प्रकारके विरक्त साधु बहुत कम हैं, किंतु उनका बिल्कुल अभाव नहीं है। खोजनेपर मिल भी सकते हैं। उनका सङ्ग करना चाहिये और आत्म-कल्याणके लिये उनसे प्रश्न पूछना चाहिये। वे जो साधन बतलावें उसके अनुसार साधन करना चाहिये। इससे कल्याण हो सकता है। और कुछ न बन सके तो साधुओंकी अन्न-जलसे सेवा करनी चाहिये। साधुओंको नकद पैसा नहीं देना चाहिये। नकद पैसा देनेवाला पापका भागी होता है, क्योंकि साधुओंको पैसा पासमें रखनेका विधान नहीं है, अतः उन्हें पैसा देनेसे दाताको पाप लगता है। इसलिये साधुओंको उनके उपयोगमें आनेवाली वस्तु ही देनी चाहिये। हमलोग साधुओंको जूता, वस्त्र, अच्छी पुस्तकें, कम्बल आदि ये ही वस्तुएँ दिया करते हैं। विशेष अवसर लगनेपर साधुओंको तीर्थ करा देने चाहिये। कश्चन और कामिनीको स्वीकार करनेसे साधु पापके भागी बनते हैं, अतः अपनेको इसमें निमित्त नहीं बनना चाहिये।

माताओं, बहनोंको चाहिये कि साधुओंके चरण-स्पर्श न करें। दूरसे ही प्रणाम किया जा सकता है। परपुरुषको स्पर्श करनेसे बियाँ पापकी भागिनी होती हैं; क्योंकि पातिव्रत-धर्ममें दोष आता है। इसी प्रकार पुरुषोंको चाहिये कि बियोंके संसर्गसे दूर रहें।

पातिव्रतधर्मका बहुत सुन्दर उदाहरण वाल्मीकि-रामायणमें आता है। श्रीहनुमान्जी श्रीरामचन्द्रजीका संदेश लेकर सीताजीके समीप जाते हैं। रावण अशोकवाटिकामें सीताजीके समीप आता है एवं भयभीत करके चला जाता है। रावणके चले जानेके पश्चात् हनुमान्जी पेड़से उतरकर सीताजीके समीप आते हैं एवं सीताजी हनुमान्जीसे कहती हैं—‘मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। श्रीरामके वियोगमें मैं प्राणोंका त्याग कर दूँगी। श्रीरामसे जाकर कह दो, यदि वे एक महीनेके अंदर यहाँ नहीं आयेंगे, तो मैं प्राण-त्याग कर दूँगी।’ तब हनुमान्जी बोले—‘माता! तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें अपनी पीठपर चढ़ाकर श्रीरामके समीप पहुँचा दूँगा।’ सीताजीने कहा—‘मैं जानती हूँ, तुम श्रीरामके परमभक्त हो एवं मेरे लिये पुत्रके समान हो, किंतु मैं पर-पुरुषके शरीरका स्पर्श नहीं कर सकती। इससे पातिव्रत-धर्ममें कलंक लगता है। यह दुष्ट रावण मुझे बलपूर्वक उठा लाया है, मैंने अपनी इच्छासे इसका स्पर्श नहीं किया है।’ इतने संकटमें भी उच्चकोटिके साधु ब्रह्मचारी हनुमान्जीको सीताजी नहीं छूतीं—कितना सुन्दर पातिव्रत-धर्मका उदाहरण है।

महाभारत-वनपर्वमें भी एक ऐसी ही कथा आती है। अर्जुन अश्वविद्या सीखने इन्द्रके समीप स्वर्गमें गये। इन्द्रके महाप्रासादमें उर्वशीका नृत्य हो रहा था। उस समय अर्जुन भी वहीं थे। उन्होंने पुरुरवाकी पत्नी समझकर उर्वशीको अपनी कुल-माताकी दृष्टिसे देखा। रात्रि होनेपर इन्द्रने उर्वशीको अर्जुनके समीप भेज दिया। अर्जुनके पूछनेपर उसने आनेका कारण बतलाया। अर्जुनने कहा—‘मैं तो आपको अपनी माता कुन्तीके भावसे देख रहा था। मैं आपके साथ इस प्रकारका कर्म कैसे कर सकता हूँ।’ बहुत प्रयत्न करनेपर भी अर्जुन तैयार नहीं हुए। अन्तमें उर्वशीने शाप दे दिया—‘तुम नपुंसक हो जाओ।’ अर्जुनने शाप स्वीकार कर लिया; किंतु धर्मका त्याग नहीं किया।

इसी प्रकार कचका भी उदाहरण आता है। देवयानीने बृहस्पतिके पुत्र कचको हर प्रकारसे समझाया, किंतु कच देवयानीको बहनके समान समझता था, अतः उसने उसकी बातको स्वीकार नहीं किया। अन्तमें देवयानीने कचको शाप दे दिया—‘तुमने मेरे पितासे जो संजीवनी विद्या सीखी है, वह भूल जाओगे।’ कचने शाप स्वीकार कर लिया, किंतु धर्मका त्याग नहीं किया। चाहे जो कुछ हो जाय अपने धर्मपर दृढ़ रहना चाहिये। पुरुषोंको चाहिये कि वे परस्त्रीकी ओर न देखें, न उनका स्पर्श करें। कभी बात करनेका अवसर भी पड़े तो नीची दृष्टि करके करें। इसी प्रकार स्त्रियोंको भी परपुरुषसे पिता-भ्राता समझकर ही बात करनी चाहिये। तीर्थमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। अपनी स्त्रीसे भी सहवास न करे तो अच्छा है। पर-स्त्रीकी तो बात भी मनमें आना पाप है। तीर्थमें सत्य बोलनेका नियम लेना चाहिये।

तीर्थमें आकर दूसरेका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहाँ जप करनेका बड़ा भारी महत्त्व है। यहाँ आकर खूब तपस्या करनी चाहिये। धर्म-पालनके लिये खूब प्रयत्न करना चाहिये। संयमसे रहना चाहिये। दोपहरमें एक बार भोजन करना चाहिये। न रहा जाय तो दो बार कर लें। मोटे कपड़े पहनने चाहिये। इस प्रकार वैराग्यपूर्वक रहनेसे भजनमें सहायता मिलती है।

तीर्थमें आकर मौन-व्रत धारण करना चाहिये। तीर्थमें आकर पितरोंकी वृत्तिके लिये श्राद्ध और तर्पण करना चाहिये एवं उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। देवताओंके लिये हवन करना चाहिये। इसका बहुत बड़ा माहात्म्य है।

तीर्थमें आकर अपना समय आलस्य, भोग एवं निद्रादि दुर्गुणोंमें नहीं बिताना चाहिये। इन अवगुणोंका विषय समान त्याग करना चाहिये एवं उपर्युक्त सद्गुणोंको अमृतके समान समझकर आचरण करना चाहिये। तीर्थमें चोरी नहीं करनी चाहिये। दूसरेकी वस्तु देनेपर भी ग्रहण न करें। जो भी वस्तु लेनी हो, पैसा देकर लेनी चाहिये।

तीर्थमें संयमसे रहना चाहिये। खान-पान एवं पहननेमें अधिक पैसा खर्च नहीं करना चाहिये। परोपकारमें चाहे जो कुछ भी खर्च किया जा सकता है। अपने शरीरके लिये कंजूसकी तरह कम-से-कम खर्च किया जाना चाहिये।

तीर्थमें आकर, वनमें एकान्तमें आकर भगवान्‌के नामका जप, भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग एवं मन-इन्द्रियोंका संयम रखना सबसे बड़ी वस्तु है।

तीर्थमें गङ्गाजीकी पूजा, गीताजीका स्वाध्याय, मानसिक पूजा तथा व्रत एवं उपवास करने चाहिये। व्रत-उपवास करना भी तपस्या है। इनसे अन्तःकरण पवित्र होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। तीर्थमें आकर सभी शुभकर्म निष्काम भावसे करने चाहिये। भगवान्‌ निष्कामभावसे किये गये साधनकी प्रशंसा करते हैं—‘स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।’—निष्कामभावसे किया गया थोड़ा-सा साधन भी बहुत अधिक कल्याणकारक होता है।

तीर्थमें रहकर किञ्चिन्मात्र भी पापका आचरण नहीं करना चाहिये। भोजन एवं व्यवहार शुद्ध रखने चाहिये। जो सिद्धि सैकड़ों वर्षोंके साधनोंसे भी नहीं मिलती, वह तीर्थमें रहकर केवल एक महीनेतक भी शास्त्रोंके आज्ञानुसार निष्कामभावसे आचरण करे तो मिल सकती है, कल्याण हो सकता है। कामना, दम्भ, पाखंड, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका त्याग करना चाहिये। विवेक, वैराग्य और निष्कामभावसे साधना करनी चाहिये। इससे शीघ्र भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार दो बातें बतायी गयीं—

१—अतिशय पापीका भी साधनमें लगनेपर भगवान्‌ बहुत शीघ्र उद्धार कर सकते हैं, अतः निराश नहीं होना चाहिये।

२—तीर्थमें समयका सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये।

एक संतका सदुपदेश

ईश्वरीय सहायतासे सभी तत्काल सुखी हो सकते हैं। जिस प्रकार एक सर्वसमर्थ पिता अपने संकल्पसे बहुत-से कुटुम्बियोंको रचकर नियमानुसार सबपर शासन करता है तथा उनके कर्मानुसार उचित दण्ड अथवा पुरस्कार देता है, परंतु यदि अपने कुकर्मवश प्रजामें नाना प्रकारके दुःख तथा विद्रोहकी अधिकता हो गयी हो और इतना होनेपर भी प्रजासे कुकर्म ही बनता हो तो सुखकी आशा नहीं की जा सकती; परंतु जैसा चाहे, वैसा करनेमें समर्थ पितासे यदि सद्भावसम्पन्न होकर अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करते हुए अपने-सहित सभीके सुखी होनेके लिये करुणापूर्ण प्रार्थना करें तो समर्थ पिताकी सहायतासे अवश्य पूर्ण सुखी हो सकते हैं। परमपिता परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं, वे जैसा चाहें वैसा करनेमें समर्थ हैं। वे अपने संकल्पसे इस चराचर प्राणिरूप प्रजाको रचकर नाना प्रकारके नियमानुसार शासन करते हैं, परंतु स्वार्थवश कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेके कारण प्रजामें नाना प्रकारके विद्रोह तथा दुःखोंकी बहुलता हो गयी है। इतना दण्ड मिलनेपर भी कर्तव्यमें पूर्ण तत्परता नहीं हो पाती है, अपितु कर्तव्यभ्रष्टता ही बढ़ रही है। ऐसी परिस्थितिमें नीतिके अनुसार सिवा दुःखके सुखकी आशा नहीं की जा सकती; परंतु परमदयालु परमपिता परमात्मा जब जैसा चाहें वैसा करनेमें समर्थ हैं। तो क्या वे प्राणियोंकी करुणापूर्ण प्रार्थनाको सुनकर दया न करेंगे? अवश्य करेंगे। जिस समय उनकी दया हो जायगी तो वे अपने संकल्पसे प्रकृतिका सुधार करके प्राणियोंकी विकृतिको भी हटा देंगे। हाँ, प्रार्थना सभीके सुखके लिये होनी

चाहिये; क्योंकि सारा विश्व ही हमारा सबसे बड़ा घर है, जिसके भीतर नाना प्रकारके महादेश घरके कमरोंकी भाँति हैं, जिनमें राष्ट्राधिप लोग विभक्त भाइयोंकी भाँति अपने-अपने देशरूपी कमरोंमें प्रजारूप कुटुम्बको लेकर रहते हैं। एक ही घर होनेके कारण किसी भी कमरेका दुःख सारे घरमें बुराई पैदा कर देता है। जिससे विश्वरूपी घरमें रहनेवाले सभी कुटुम्बी किसी-न-किसी दुःखका अनुभव करते ही हैं। ऐसी परिस्थितिमें वे सब भाई यदि दुःखी होकर अपनेको सुखी तथा दूसरे भाईको दुःखी करनेके लिये प्रार्थना करेंगे तो ईश्वरीय सहायता कैसे मिलेगी? ऐसी दशामें जिसका बल बढ़ा होगा, वह दूसरेको दबाकर अपने स्वार्थकी पूर्ति करेगा; किंतु ऐसा करनेवालेका भी अन्तिम परिणाम बुरा ही होगा। इसके विपरीत यदि स्वार्थका परित्याग करके सभी भाई मिलकर अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करते हुए सारे विश्वरूपी घरमें निवास करनेवाले सबके सुखी होनेके लिये करुणापूर्ण प्रार्थना करें तो जो न्यायकारी होनेके साथ-साथ स्वाभाविक ही परम दयालु भी हैं ऐसे परमपिता परमेश्वर प्रसन्न होकर सबके अपराधोंको क्षमा करते हुए अपने संकल्पमात्रसे ही सबको अवश्य ही शीघ्र सुखी बना देंगे। अतः यदि हम सब लोग सभी प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर सब तरहसे सुखी होना चाहते हैं तो परस्पर मिलकर विश्वकल्याणार्थ प्रार्थना करके दयानिधि परमपिता परमात्माको अपनी ओर झुकाकर उनकी कृपासे कर्तव्यपरायण होकर परस्पर प्रेम रखते हुए सदा पुरुषार्थपरायण बनकर जीवनको सुखमय बनायें।

परलोक-विचार

(तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीजीका उपदेश)

पूर्व और पर—पिछला और अगला जन्म है अथवा नहीं—यह जाननेके लिये यदि स्थिर-चित्तसे विचार किया जाय तो तीनों जन्म—पूर्व, वर्तमान और भविष्यत् स्पष्ट दिखायी देंगे। पूर्वजन्ममें मैंने जैसे कार्य किये हैं और मैं जिस प्रकारके स्वभावका मनुष्य था, मृत्युके अनन्तर कर्मफलके अनुसार उन्हीं सब परमाणुओंको लेकर मेरी यह वर्तमान देह बनी है। वर्तमान जीवनमें मैंने अपने द्वारा अच्छे-बुरे जैसे कुछ काम किये हैं, उन सबको मैं भलीभाँति जानता हूँ। अच्छा काम करनेसे अच्छा फल और बुरा काम करनेसे बुरा फल भोगना पड़ेगा। इस समय जो व्यक्ति विचार कर देखेगा, वही जान सकेगा कि वर्तमान जीवनमें मैं किस प्रकारका मनुष्य तैयार हो रहा हूँ और मेरे इन सब कामोंके अनुसार भविष्य-जीवनमें मैं कैसे स्वभाव और किस प्रकारकी अवस्थाका आदमी बनूँगा। प्रयत्न करनेपर जिस बातको स्वयं जान सकते हैं, उसे जाननेके लिये दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता ही क्या है !

वर्तमान जन्मका इहलोक ही पूर्व-जन्मका परलोक और वर्तमान जन्मका परलोक ही भविष्य-जन्मका इहलोक है। इस स्थूल-देहके भीतर दूसरी देह है, उसका नाम सूक्ष्म-देह है एवं उसके भीतर भी एक अन्य देह है, जिसका नाम कारण-देह है। केलेकी छालकी भाँति अवस्थित यह त्रिविध देह ही संसार-संज्ञामें विराजमान है। मनुष्य-देहका संवटन, आकृति, वर्ण, स्वभाव, विद्वान् अथवा मूर्ख, कर्कश अथवा नम्र, धार्मिक या अधार्मिक, साधु अथवा चोर, सरल या

कुटिल, राजा अथवा जमींदार, मध्यवित्त या गरीब, उच्च वंशमें जन्म अथवा नीच वंशमें जन्म आदि सभी पूर्व-जन्मके कर्म-फलके अनुसार वर्तमान देहके रूपमें प्राप्त हुए हैं*। इसी प्रकार फिर इस जीवनका कर्म-फल लेकर अगले जन्मकी देहकी आकृति बनेगी।

जीवके भूमिष्ठ होनेसे आरम्भ कर लयपर्यन्त जो समय है, वही उसकी परमायु है। यदि आध्यात्मिक अर्थको लिया जाय तो जीवकी परमायु अनन्त है। जीव अक्षय और अमर है। जीवके ध्वंस होनेपर भी उसका उपकरण कभी नष्ट नहीं होता। साधारण जनोंका विश्वास है कि जो जीव जितना पुण्यवान् है, उसकी परमायु भी उतनी ही अधिक होती है और वह तदनुसार ही अधिक समयतक जीवित रहता है; परंतु यह भूल है। जीव संसारसे जितना दूर रहेगा उतना ही उसे पाप स्पर्श नहीं कर सकेगा। जीव कर्मफल भोगनेके लिये संसारमें आता है। कारण, संसार ही कर्मफल-भोगका स्थान है। अतएव जितने दिनोंतक जीवका कर्मफल-भोग समाप्त नहीं होता—जितने दिनोंतक जीव पापसे मुक्त नहीं होता, उतने दिनोंतक उसे संसारमें रहना पड़ता है। जो पुण्यवान् है, वह अधिक दिनोंतक संसारवासी नहीं होता। जो जितना पापी है, उसे उतने ही दिनोंतक संसारमें रहकर कर्मफल भुगतना पड़ता है। जिसका कर्मफल शेष हो जाता है, वह संसारसे चला जाता है। जिसका जीवन जितना शीघ्र लयको प्राप्त होता है, वह उतना ही पुण्यवान्

* वर्तमानोऽन्यथोः कालो गुणाभिव्यापको यथा । एवं

जन्मान्यथोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । १ । ४७)

है। उसका जीवन उतना ही पाप-शून्य है। पाप-शून्य होनेसे वह ईश्वरमें लय हो जाता है, उस समय उसकी आयु असीम है। जबतक ईश्वरकी सत्ता विद्यमान रहेगी, तबतक उसकी सत्ता वर्तमान रहेगी।

मनुष्य जैसे आगे-आगे पुण्य करता रहता है, उसका फल-भोग भी दिन-रातकी तरह आगे-आगे चलता रहता है। इसीलिये कर्मफल शेष न होनेसे बार-बार संसारमें आना पड़ता है। उसके जन्म और मरणका ताँता बँधा रहता है। जिनका यह विश्वास है कि पुनर्वा जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता, मृत्यु ही उसका शेष है, उनकी यह धारणा गलत है। ईश्वर है, यह स्वीकार कर लेनेपर पुनर्जन्म भी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि ईश्वर है तो मनुष्यका आत्मा भी है। ईश्वरका ध्वंस नहीं, अतएव ईश्वरकी शक्ति आत्माका भी विनाश नहीं। यदि पुनर्जन्म न हो तो ईश्वरको कभी दयामय नहीं कहा जा सकता। कारण, इस जीवनमें कोई राजा, कोई प्रजा, कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई अन्धा, कोई खज्ज, कोई उत्तम कुलमें और कोई नीच वंशमें जन्म ग्रहण क्यों करते हैं? यह विषमता क्यों है?

इसका स्पष्ट प्रमाण—जिस जीवने जैसे-जैसे कर्म किये हैं, उनका भोग शेष न होनेतक उसे किये हुए कर्म-फलके अनुसार बार-बार देह धारण करना पड़ता है। जो जन्मान्व है, उसने इस जीवनमें कुछ भी नहीं देख पाया, किंतु अन्य सब अच्छी तरह देखते हैं—इसका क्या कोई कारण नहीं है?

जान पड़ता है, यह कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा कि पूर्वजन्मके पापका फल-भोग ही इसका कारण है। इस जीवनकी देह, आकृति, स्वभाव, ज्ञान आदि सभी पूर्वजन्मके कर्मफलके अनुसार ही बने हैं, जिसने जैसे कर्म किये हैं, उसकी आकृति और स्वभाव ठीक उसी प्रकारके बने हैं। जो चोरी करके जीवन व्यतीत

कर रहा है, अगले जन्ममें उसकी आकृति और स्वभाव ठीक दस्युकी भाँति रूख रहेगा। जो धर्म-चर्चा करके जीवन व्यतीत कर रहा है, उसकी आकृति सौम्य और स्वभाव अति कोमल होगा।

एक आदमी जीवनभर धर्म-चर्चा करके भी सुखी नहीं रहा, संसारमें नाना प्रकारके कष्ट उठाये और एक आदमीने अति वृणित कार्य—लम्पट्य अथवा दस्युवृत्ति करके भी सुखसे जीवन व्यतीत किया—इसका स्पष्ट प्रमाण पूर्वजन्म ही है। जिस व्यक्तिने धर्म-चर्चा या धर्माचरण करके इस जीवनमें कष्ट पाया है, वह एक समय अवश्य सुख-भोग करेगा। इस जीवनमें उसने जो कष्ट पाया है, वह उसके पूर्वजन्मके बुरे कर्मका फल था, जिसके भोगका समय उपस्थित होनेसे कष्ट उठाना पड़ा और दूसरे आदमीके लिये सम्प्रति पूर्वजन्मके शुभ फल भोगनेका समय उपस्थित हुआ, इसलिये उसने सुखसे जीवन व्यतीत किया, किंतु इसके बाद उसे बड़ा कष्ट भुगतना होगा। कितने ही लोग कह देते हैं कि पाप-कर्म करनेमें प्रवृत्ति एवं पुण्य-कर्म करनेमें निवृत्ति ईश्वरकी ही इच्छा और प्रेरणासे होती है, परंतु यह बड़े अज्ञानकी बात है। रिपु और इन्द्रियाँ सभी अच्छा-बुरा कार्य करती हैं। राग करनेसे ही अनिष्ट होगा। कामना होनेसे ही प्राप्ति की इच्छा होगी, लोभ करनेसे ही पर-द्रव्य-अपहरणकी चेष्टा होगी, अहंकार होनेसे ही दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करना होगा आदि। जिसका जो धर्म है वह अपना कार्य करता ही है। इसलिये ब्रह्माने मनुष्यको हिताहितका ज्ञान दिया है और सब जीवोंमें श्रेष्ठ बनाया है। मृत्यु ही कभी शेष नहीं हो सकती। यदि मृत्यु ही शेष हो तो ईश्वरको प्रतिदिन संख्यातीत आत्माएँ उत्पन्न करनेका कार्य करना पड़े तथा मनुष्यकी अपेक्षा उसका यह गोरख-धंधा कितना ही अधिक बढ़ जाय और जीवन कष्टमय हो जाय।

देहके विच्छिन्न होनेपर भी आत्माका अपकार उसी प्रकार नहीं होता, जैसे घरके जलते रहनेपर भी गृहके अभ्यन्तरस्थ आकाशकी कुछ भी क्षति नहीं होती। आत्मा हन्ता भी नहीं और आत्मा हत भी नहीं। 'द्वेष ही संतापका मूल है, द्वेष ही संसारका बन्धन है और द्वेष ही मुक्तिका प्रतिबन्धक है, अतएव यत्नपूर्वक द्वेषका परित्याग करो। सुख-दुःख देहके नहीं हैं, आत्माके भी नहीं हैं। यद्यपि आत्मा वायुकी भाँति निर्मल और निर्लेप है, तथापि जीव ईश्वरकी मायासे मोहित होकर मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—इस प्रकार अपने-आप ही समझता है। विश्व-मोहिनी उस अनादि अविद्याका नाम ही माया है। जन्मते ही जीवका उस अविद्या अर्थात् मायाके साथ सम्बन्ध हो जाता है, इसीसे वह संसारमें बँध जाता है। बुद्धि-इन्द्रियादिके समीप अवस्थितिके कारण आत्मा निर्मल होनेपर भी तत्त्व-पदार्थके समगुण-सम्पन्न प्रतीत होता है। मन, बुद्धि और अहंकार जीवके सहकारी हैं। अपने किये हुएका फल अपनेको ही भोगना पड़ेगा अर्थात् जिसका जैसा कर्मफल है, उसे वैसा ही कर्म-फल भुगतना होगा। फिर सृष्टिके समय जीव मन-प्रभृतिके साथ सम्बन्ध लेकर देह-धारण करनेको बाध्य होता है। जबतक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तबतक उसे इसी रूपमें भ्रमण करना पड़ता है। देह मनस्तापका मूल है, देह संसारका कारण है और कर्म-फलसे ही उस देहकी उत्पत्ति है। कर्म दो प्रकारका है—पाप और पुण्य। उस पाप और पुण्यके अंशके अनुसार ही देहीको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जितना पाप, उतना ही दुःख और जितना पुण्य, उतना ही सुख भोगना पड़ेगा। यह सुख-दुःख दिन-रातकी भाँति परस्परसापेक्ष हैं और भोगके बिना इनका शेष नहीं होता। भोग शेष हुए बिना मुक्ति नहीं होती।

आत्मा शरीरमें कर्तारूप है। जिस वस्तुके जीव-देहसे विच्छिन्न होनेपर जीवका जीवन नहीं रहता, इन्द्रियादि फिर कोई कार्य नहीं कर सकती, वही वस्तु जीवका आत्मा है। आत्माहीन देहको सुख-दुःख कुछ भी अनुभव नहीं होता। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ज्ञान कुछ भी नहीं रहता, अतएव यह निश्चय है कि आत्मा ही देहका कर्ता है। सुख-दुःख ज्ञानके द्वार-स्वरूप हैं। आत्माको तिरस्कार या पुरस्कार देनेके लिये उस आत्माके वासस्थल देहका प्रयोजन है। क्लेश एवं विषादका अनुभव शरीरकी सहायता पाये बिना आत्माको नहीं हो सकता। आत्मा एकाकी चला जाता है—देह उसके साथ नहीं जाती, इसलिये आत्माको दण्ड देना असम्भव है। प्रत्येक जीव-देहमें ईश्वर आत्मारूपसे वर्तमान है। जीवात्मा परमात्माका अंश है। पाप जैसे अनेक प्रकारके हैं, वैसे ही उसके दण्ड भी अनेक प्रकारके हैं। पुण्य भी अनेक प्रकारके और हर्ष भी अनेक प्रकारके हैं। अनुताप ही पापका प्रधान दण्ड और हर्ष ही पुण्यका प्रधान पुरस्कार है। मनुष्यका हृदय पाप-पुण्यके निराकरणका तराजू है। पुण्यसे हर्ष और पापसे अनुताप अपने-आप ही मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होकर उसके किये हुए कार्यका उपयुक्त पुरस्कार प्रदान करते हैं। इस दण्डको देखकर ही जो बुद्धिमान् हैं, वे स्वयं पापसे बचते हैं। पञ्चभूत केवल परमाणुसमष्टि मात्र है। परमाणु अविनश्य हैं, अतएव भूतसमष्टिका भी विनाश नहीं है। मृत-देह फिर उसी पञ्चभूतमें मिल जाती है। जो मनुष्य आज तुम्हारे सामने विराजमान है, उसका शरीर पूर्वजन्ममें किस जीवके परमाणुओंद्वारा निर्मित हुआ है ? उस भूत-पूर्व जीवके पुनर्जन्मका फल, रूप, तुम्हारे सम्मुखस्थ मनुष्य है।

१—नायं हन्ति न हन्यते।

(कठोपनिषद् १।२।१९ तथा गीता २।१९)

२—नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते।

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

जो आत्मा जिस परिमाणमें पापसे निर्मुक्त है, जो आत्मा जिस परिमाणमें विषय-वासनासे शून्य है, वह आत्मा उसी परिमाणमें उन्नत है। धार्मिकका आत्मा पापात्माके आत्मासे बहुत उन्नत है। उस उन्नतिशील आत्माका वह उन्नत स्वभाव देह-त्याग करनेपर भी नष्ट नहीं होता; प्रत्युत संसारकी जो कुछ वासना, जो एक प्रवृत्ति थी, उसके बद्ध होनेपर आत्मा क्रमशः उन्नतिके पथपर चलने लगता है। आत्मा पुरुष और देह प्रकृति है। आत्मा जबतक प्रकृतिसे संयुक्त नहीं होता, तबतक निष्काम और निर्गुण अवस्थामें रहता है। प्रकृतिके मिलनेसे ही उसकी इच्छा-प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और प्रकृतिसे पृथक् होनेपर फिर वह पूर्ववत् स्वभाव अर्थात् निर्गुण और निर्लिप्त-भावको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्माकी जबतक प्रवृत्ति-वासनादि वर्तमान रहती है, तबतक वह पाप-देहका आश्रय लिये रहता है और तभीतक वह सगुण, सर्वविषयोसे लित, वासनादिसंयुक्त रहता है तथा देहका परित्याग करनेपर फिर पूर्वभावको प्राप्त हो जाता है। आत्मा प्रथम निर्गुण होनेपर भी उसे देहके आश्रयसे गुण-सम्पन्न होना पड़ता है।

पश्वादि-देहसे मनुष्य-देह लाभ करनेमें प्रकृति-परिवर्तनके लिये अतिशय कष्ट और चेष्टा करनी पड़ती है। पशुसे मनुष्य होना जितना कठिन है, मनुष्य होकर मनुष्यत्व लाभ करना उससे भी अधिक कठिन है। मनुष्यसे देवता होना जितना कठिन है, मनुष्य होकर

मनुष्यत्व लाभ करना उसकी अपेक्षा भी कठिन है। शुभ कार्यके अनुष्ठानद्वारा मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है; किंतु अनायास प्रकृत मनुष्य नहीं हो सकता। समस्त भोग और आशाका परित्याग किये बिना मुक्तिका द्वार नहीं खुलता। सकाम शुभ कार्यके साधनद्वारा मुक्तिका पथ और भी दुर्गम बन जाता है। जीव देवलोकके ऐश्वर्यभोगमें मत्त होकर भोगावसानमें मर्त्यलोकमें आनेके उपयुक्त हो जाता है। इसलिये महापुरुष देव-धामकी कामना नहीं करते। कारण, वह कर्मफलजन्य चिरस्थायी नहीं है। प्रकृत मनुष्यत्व लाभ करनेके लिये सब इन्द्रियोंका वेग संवरण करना होता है। रिपुवर्गका वशीकरण, अन्तःकरणका विशुद्धीकरण, प्राणिमात्रमें समदर्शन, अभिमान त्याग आदि मनुष्यत्व लाभ करनेके प्रधान उपादान हैं। इनके अतिरिक्त शम, दम, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा एवं उपरति—ये कतिपय गुण भी मनुष्यमें होने चाहिये।

मनुष्यत्वलाभ हो जानेपर भी मुक्तिकी इच्छा सहजमें ही नहीं होती। विषय-भोगमें जितने दिनोंतक क्लेशकी उपलब्धि नहीं होती, उतने दिनोंतक जीव महाजितेन्द्रिय और योगीन्द्र होनेपर भी मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता। वासना-त्याग ही मुक्तिका मुख्य उपाय है। मुक्तिकी इच्छा होनेसे ही मुक्ति-पद लाभ होगा, यह बात नहीं है।

महापुरुषोंका सदा सङ्ग न करनेसे मुक्तिका मार्ग दिखायेगा कौन ? सत्पुरुषोंका सहवास जीवके लिये

१—शमादिषट्सम्पत्तिः—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमः—श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमः—बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तं विषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो उपरममुपरतिः। तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निग्रहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्ये विश्वासः श्रद्धा। (वेदान्तसारः १८। २५)

अर्थात् शम-ईश्वर-विषयक श्रवण-मननके अतिरिक्त विषयोसे अन्तरिन्द्रियोंका निग्रह, दम-श्रवणादि भिन्न विषयोसे बाह्येन्द्रियका दमन, उपरति—निवर्तित इन्द्रियोंका उनके अतिरिक्त विषयोसे उपराम, तितिक्षा—शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन, समाधान—ईश्वरविषयक श्रवणादिमें मनकी एकाग्रता एवं श्रद्धा—गुरु-वाक्य एवं वेदान्त-वचनमें विश्वास है।

सौभाग्य-सापेक्ष है। इच्छा करनेसे ही साधु-दर्शन नहीं होता। संतलोग प्रायः निर्जन स्थानमें ही रहते हैं। वे कभी दृष्टिगोचर हो जायँ तो भी सहजमें पहचाने नहीं जाते और यदि पहचाने जा सकें तो वे अपने निकट सम्पर्कमें रखना नहीं चाहते। निकटमें रहनेका अधिकार पा जानेपर भी उनके हृदयके भाव हम समझ नहीं सकते। नदीको पार करनेके लिये जैसे नाविकसे नौका लेनी पड़ती है, उसी प्रकार संसार-सागरसे पार होनेके लिये महापुरुषका सत्सङ्ग करना आवश्यक है। सत्सङ्गके द्वारा सभी बातें सुलभ हो जाती हैं। धार्मिकका आत्मा धर्म-बलसे क्रमशः उन्नत होकर अन्तमें मोक्षको प्राप्त हो जाता है। यह उन्नति एक महीने या एक वर्षमें नहीं होती। बहुत समयतक प्रयत्न करनेपर मोक्ष-प्राप्ति होती है। इसी प्रकार पापीका आत्मा क्रमशः अधोगतिको पहुँचता है। स्वर्ग और नरक-वास अन्य कुछ नहीं है, केवल आत्माकी उन्नति और अवनतिमात्र है। आत्माकी उन्नति और अवनतिके साथ अवस्थान्तर-प्राप्तिके लिये उसका नाना स्थानोंमें और नाना प्रकारसे जन्म होता है। इस विशाल विस्तृत जगत्में किसने कहाँ, किस भावसे पुनर्जन्म ग्रहण किया है, इसका

अनुसंधान नहीं होता, इसीलिये पुनर्जन्मपर जन-साधारण विश्वास नहीं करते। पूर्वजन्म और परकाळ हम देख नहीं पाते। पुनर्जन्म प्राप्त हुआ है—इस प्रकार साक्षात्में आकर किसीने बताया नहीं। केवल अनुमान और युक्तिद्वारा ही सिद्ध करके उसमें विश्वास करना पड़ता है। नहीं तो धर्माधर्म, पाप-पुण्य किसीमें भी भेद या पार्थक्य नहीं रहता।

लोग पाप करते हुए क्यों डरते हैं ? केवल पुनर्जन्ममें विश्वास रखनेके कारण ही और इसी भयसे कि फिर वोर यन्त्रणा भुगतनी पड़ेगी। इस जीवनमें कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई पण्डित, कोई ज्योतिषी, कोई उच्च श्रेणी-का गायक और कोई वाद्ययन्त्र बजानेमें निपुण है, इसका कारण यही है कि पूर्वजन्ममें वह उस कलामें निपुण था, इस जन्ममें वही आत्मा है, केवल देहका प्रमेद है। यदि कर्मफल न होता तो अवश्य इतना भेद नहीं रहता। अच्छे-बुरे कार्यके लिये ही जीवको विभिन्न अवस्थाओंमें गिरना पड़ता है। अच्छे कार्यसे आत्माकी उन्नति (ऊर्ध्वगति) होती है और बुरा कार्य करनेसे अवनति होती है।

निष्काम-भावसे नारायणकी पूजा करो

तुम प्रतिदिन सर्वश्रेष्ठ भगवान् विष्णुका भजन करो। सर्वशक्तिमान् श्रीनारायणका चिन्तन करते रहो। दूसरोंकी निन्दा और चुगली कभी न करो, महामते ! सदा परोपकारमें लगे रहो। भगवान् विष्णुकी पूजामें मन लगाओ और मुखोंसे मिलना-जुलना छोड़ दो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य छोड़कर लोकको अपने आत्माके समान देखो—इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी। ईर्ष्या, दोषदृष्टि तथा दूसरेकी निन्दा भूलकर भी न करो, पाखण्डपूर्ण आचार, अहंकार और क्रूरताका सर्वथा त्याग करो। सब प्राणियों-पर दया तथा साधु पुरुषोंकी सेवा करते रहो। अपने किये हुए धर्मोंको पूछनेपर भी दूसरोंपर प्रकट न करो। दूसरोंको अत्याचार करते देखो, यदि शक्ति हो तो उन्हें रोको, असावधानी न करो। अपने कुटुम्बका विरोध न करते हुए सदा अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करो। पत्र, पुष्प, फल, दूर्वा अथवा पल्लवोंद्वारा निष्काम-भावसे जगदीश्वर भगवान् नारायणकी पूजा करो।

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क-सं० १०, पृ० १००५ से आगे]

गोपियाँ दोनों भाइयोंके सौन्दर्यका स्पष्ट वर्णन करती हैं, जिससे आत्मगोपन ठीक हो जाय—

चूतप्रवालवर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रक्ते यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
मुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो
हृष्यत्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥

(श्रीमद्भा० १० । २१ । ८-९)

गोपियाँ वेणु-माधुरी, वेश-सौन्दर्य तथा रूप-सौन्दर्यका वर्णन करनेके पूर्व वृन्दावनकी सुषमाका वर्णन करती हैं—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । २१ । १०)

गोपियाँ कहने लगीं—‘सखी ! इस वृन्दावनकी क्या महिमा कही जाय ? यह वैकुण्ठादिकी अपेक्षा भी अधिक अपनी कीर्तिका विस्तार कर रहा है; क्योंकि इस वृन्दावनकी भूमिमें श्रीकृष्णके पदचिह्न अङ्कित हो गये हैं । इस भूमिपर श्रीकृष्ण स्वयं जब चलते हैं तब उनके चरणोंमें जो चिह्न हैं, वे अङ्कित हो जाते हैं । जो भगवान्‌के श्रीपदके चिह्नोंको भी अपने शरीरपर अङ्कित कर ले, उसके समान भाग्यवान् कौन है ? भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके वंशी-नादकी ध्वनि कानोंमें जाते ही ये वृन्दावनके मयूर प्रेम-आनन्दसे विह्वल हो जाते हैं और

नाचने लगते हैं । ये बड़े सौभाग्यशाली हैं जो नित्य-निकुञ्जेश्वर अखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके मुरली-वादनके साथ-साथ नाचते हैं ।

यहाँके समस्त वनवासी, पशु-पक्षी सभी प्राणी भी धन्य हैं, जो मुरलीकी तानपर मयूरको नाचते देखकर आनन्दसे स्तब्ध होकर जडवत् हो जाते हैं तथा वहाँके गोवर्धनादि पहाड़ोंमें जाकर स्थित हो जाते हैं । वे सभी बड़े सौभाग्यशाली हैं । श्रीकृष्णके साथ जिनका किसी प्रकारसे भी कोई सम्बन्ध है, उन सबको श्रीगोपाङ्गनाएँ परम भाग्यवान् मानती हैं । वे स्वयं अपनेको परम अभागिनी मानती हैं; क्योंकि वे इस समय श्रीकृष्णके अङ्ग-सङ्गसे रहित हैं । ज्यों ही यह मनमें आया कि वंशी श्रेष्ठ है, त्यों ही उनमें नाना प्रकारके भावोंका उन्मेष हुआ तथा भावावेशमें श्रीव्रजाङ्गनाओंने वेणुके भाग्यका, वंशीके सौभाग्यका वर्णन किया । वे कहने लगीं कि कितना आदर करते हैं श्यामसुन्दर इस वंशीका, सदा अपने हाथमें धारण करते हैं, चल्ते हैं कहीं तब भी उसे हाथमें रखते हैं, अपने कर-कमलोंके द्वारा निरन्तर इसे पकड़े रहते हैं, इससे अधिक सौभाग्य क्या होगा ? जब कहीं भोजन करने बैठते हैं तो उसे बगलमें दबा लेते हैं या बगलबंदी पहने रहते हैं तो अपनी छातीपर रख लेते हैं । जब सोते हैं तो टेढ़में अपने पेटके ऊपर खोंस लेते हैं । इस प्रकारका वेणुका अप्रतिम सौभाग्य है । वेणुके सौभाग्यके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती । हमारे लिये तो इस प्रकारके सौभाग्यकी सम्भावना करना ही असम्भव है । हम कुलवधू ठहरीं, अतः सब जगह जा नहीं सकतीं,

रह नहीं सकती, मिल नहीं सकती । हमारा भाग्य तो इस प्रकारका है कि हम श्रीकृष्णके सङ्गसे नित्य वञ्चित हैं, पर उनके हाथमें रहनेवाली वेणुकी तो बात ही क्या है ?

इस वन-भूमिका भी जब हम सौभाग्य देखती हैं तो हमारे मनमें इसके प्रति भी बड़ी श्रद्धा पैदा हो जाती है । यह श्रीश्यामसुन्दर रसिकशेखर भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श प्राप्त करती है । मुरलीका सौभाग्य तो ऐसा है ही । इन्हें वनमें गायोंके पीछे चलना पड़ता है । सबको प्रेमदान, आनन्द-दान करनेका लीलामाधुर्य तो केवल व्रजमें ही है । राजा-महाराजके यहाँ कहीं अवतार हुआ तो रथपर चढ़ेंगे, पैदल कौन चलेगा ? उस स्थितिमें नौकरोंकी, सेवकोंकी गोदमें रहेंगे, सिरपर रहेंगे, इन्हें जमीनपर भी कौन पैर रखने देगा ? भूमि बेचारी रोती है कि भगवान्‌ प्रकट भी होते हैं और हम उनके स्पर्शसुखसे वञ्चित रह जाती हैं, परन्तु इस व्रजमें तो श्यामसुन्दर पैदल ही चलते हैं । यद्यपि वन-भूमि सर्वदा और सर्वथा अपने-आपको कोमलतर बनाये रखती है । कुश-कण्टक, काँटे-रोड़े जमीनमें कहींपर रहे नहीं । प्रकृति देवीने वन-भूमिको ऐसा सजा दिया है कि श्रीकृष्णका पैर जहाँ रखा जाय, वहीं ऐसा लगे कि यह परम कोमल मखमली गद्दा है । ऐसी भूमि बन गयी, परन्तु भूमिमें कुश-कण्टक तो रहते ही हैं । रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गोपियोंने एक जगह यह कहकर बहुत दुःख प्रकट किया है ।

भगवान्‌के सुखके लिये, प्रेमास्पदके सुखके लिये अपने सुखका सर्वथा परित्याग गोपीके रोम-रोममें बसा हुआ है । प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक विचारमें, प्रत्येक वृत्तिमें यह वस्तु रहती है । गोपी कहती है कि आपके चरणोंका स्पर्श जब हमारा वक्षःस्थल प्राप्त करता है, तब सुखकी सीमा नहीं रहती; परन्तु वह सुख हम चाहती

नहीं । वह सुख हमें इस आशङ्कासे बड़ा दुःखद हो जाता है कि हमारा कठोर वक्षःस्थल आपके कोमल चरणोंमें आघात पहुँचाता होगा । कुश-काँटोंसे भरे वनमें ऐसे चरणकमल चलते हैं तो हमें बड़ा दुःख होता है । वृन्दावनकी भूमिमें श्यामसुन्दर केवल चलते ही नहीं हैं, उसमें पैदा हुई जगह-जगह तरह-तरहकी लाल, हरी, पीली, नीली मिट्टी-वह मृण्मयी धातु श्यामसुन्दरको बड़ी प्रिय लगती है । वे स्वयं अपने प्रिय सखाओंका जब शृङ्गार करने लगते हैं, तब सखा समझते हैं कि इनका शृङ्गार हम करें । वे वहाँकी मिट्टीको, धातुको, वृन्दावनकी रेणुको यमुनाजीका जल लाकर शिलाओंपर घिस लेते हैं और उन धातुओंके विचित्र रंगोंसे श्यामसुन्दरके तमाम अङ्गोंको चित्रित करते हैं, सजाते हैं । वन-भूमिका कितना बड़ा सौभाग्य है । वृन्दावनकी भूमि, जिसपर उनके चरण टिके, कितनी पवित्र है । वृन्दावनकी भूमिपर रथपर वे एक ही बार मथुरा जानेके लिये बैठे । रथपर एक ही बार सवार हुए तो वे चले ही गये । फिर कभी लौटे नहीं । वृन्दावनकी भूमिपर रथपर सवार होकर चलना वृन्दावनकी भूमिका तिरस्कार करना है । जब रथपर अक्रूरने उन्हें बैठा लिया तब श्यामसुन्दरने कहा—‘अब इस भूमिपर पैर रखनेके अधिकारी हम नहीं रहे ।’ वे चले ही गये । वृन्दावनकी भूमिने भगवान्‌के चरणोंका प्रसाद प्राप्त करके शोभा और श्रीसम्पत्तिको प्राप्त कर लिया । श्रीशुकदेवजीने भी ‘यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि’—कहकर यही भाव व्यक्त किया है । गोपियाँ कहती हैं कि इस भूमिपर श्रीश्यामसुन्दरके चरण-विह्वल अङ्कित हैं एवं उनका स्पर्श इसे प्राप्त हुआ है, अतः यह धन्य है । हम कहीं इस वनकी भूमि बन जातीं तो बड़ा अच्छा रहता । हमपर भी, हमारे सारे वदनपर श्यामसुन्दरके चरण टिकते और हमारे वदन भी, हमारे अङ्ग-अङ्ग भी

श्यामसुन्दरके चरणचिह्नसे अङ्कित होते तो बड़ा सौभाग्य होता । हम कृतार्थ हो जातीं । यह ठीक है, सारी पृथ्वीमें वृन्दावनकी भूमि सबकी शिरोमणि है । पद्मपुराणमें आता है—‘त्रिलोक्यां पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं शुभम्’—तीनों लोकोंमें पृथ्वी धन्य है, जहाँ मङ्गलमय वृन्दावन है ।

भगवान्का स्वभाव अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय है । परस्परविरोधी गुण-सम्पत्ता इनका स्वभाव है । वे ‘अजोरणीयान्महतो महीयान्’—अणुसे अणु और महान्से महान् हैं । वृन्दावनमें जब ये दैत्योंका दमन करते हैं, उस समय बड़े कठोर हो जाते हैं और यहीं वृन्दावनमें इनके माधुर्य और इनकी कोमलतापर सभी मुग्ध हैं । वृन्दावनमें जिस प्रकार इन्होंने वंशी-लीला आदि की, वैसी लीला अयोध्यामें भगवान् श्रीरामने नहीं की है; क्योंकि वे राजकुमार थे । वहाँकी मर्यादा दूसरी थी । श्रीकृष्ण तो वहाँ अहीरोंके—गालोंके बालकोंके साथ खेलते थे । अयोध्यामें राजकुमार श्रीराम सखाओंके सङ्ग खेलें तब भी सखाओंके मनमें उनके प्रति ऐश्वर्यका भाव है । उन्हें लगता है कि ये राजकुमार हैं, कहीं इनका अनादर न हो जाय । हमारे साथी हैं, पर हैं तो राजकुमार । अतः वहाँ विशुद्ध माधुर्यका उदय नहीं होता है । वहाँ माधुर्य ऐश्वर्यमिश्रित है । जैसे वसुदेव-देवकीयें बड़ा माधुर्य है, वात्सल्य है, परंतु इसके साथ ऐश्वर्य मिश्रित है । वे स्तुति करते हैं, पर नन्द-मशोदाने कभी स्तुति नहीं की । वृन्दावनमें जिस प्रकारकी निर्बाध, स्वच्छन्द, अमर्याद लीला हुई वैसी कहीं अन्यत्र नहीं हुई । सब जगह कोई-न-कोई मर्यादा, कोई-न-कोई सीमा, कोई-न-कोई अवधि लगी हुई है; परंतु वृन्दावनमें इस प्रकारका कोई बन्धन नहीं है कि इस प्रकार बैठे, इस प्रकार उठे, इस प्रकार करे । ऐसी निर्बाध लीला सबके साथ मिलकर और कहीं भी नहीं हुई । भगवान् श्रीरामने कभी

छोटे-से बछड़ेकी पूँछ पकड़ी हो और बछड़ा उन्हें लेकर दौड़ा हो—यह नहीं किया । जब सेवकलोग साथ-साथ हैं, तब उन्हें जाने कैसे देते । श्रीराममें और श्रीकृष्णमें अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं; परंतु वृन्दावनकी लीला कुछ विचित्र है । श्रीश्यामसुन्दर मेढकोंके साथ फुदकने लगते, मोरोंकी बोली बोलने लगते, बंदरोंकी भाँति ढालियोंपर कूदने लगते, ये सब लीलाएँ किसी दूसरे अवतारमें नहीं हुईं । श्रीकृष्णावतारमें भी वृन्दावनमें रहनेतक ये सभी लीलाएँ हुईं । जब वे मथुरा चले गये, तब ये लीलाएँ बंद हो गयीं । ये मधुरतम निर्बाध लीलाएँ वृन्दावनमें हुईं । यह वृन्दावन जिस पृथ्वीपर है, वह स्वर्गलोककी अपेक्षा, दिव्य लोकोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि दिव्य लोकोंमें भगवान्का यह व्यवहार नहीं होता ।

वैकुण्ठ या साकेतके भगवान् सर्वपूज्य हैं, इनका पूजनीय कोई नहीं । वेदों तथा उनकी ऋचाओंके द्वारा बड़े-बड़े ऋषि तथा बड़े-बड़े महात्मा इनका नित्य स्तवन किया करते हैं । बराबरीका दावा करनेवाला और डराने-धमकाने-वाला वहाँ कोई नहीं है । इनके भयसे कुबेर, यम, वरुण, सूर्य, चन्द्र सभी जिनके नियमोंमें बँधे हुए तथा क्रियाशील हैं, वे किसीके भयसे आँसू बहाते हों, यह वृन्दावनके अतिरिक्त और कहीं नहीं हुआ । कहीं भी हाथमें छड़ी लेकर मॉने नहीं धमकाया । कौसल्याने भी नहीं धमकाया; क्योंकि वहाँ श्रीरामने ऐसा आचरण ही नहीं किया । श्रीरामके आचरण ऐसे दिव्य तथा मर्यादित हैं कि वहाँ छड़ी लेनेकी आवश्यकता ही नहीं । महाँ तो छड़ीसे मान जायँ तो बहुत है । जहाँपर रससागर बहिराता है, वहाँ भगवान्का दिव्य स्वरूप नाचने लगता है, उठकने लगता है, अतः वहाँपर मर्यादा नहीं रहती । वृन्दावनकी यह भूमि पृथ्वीका सौभाग्य है । तीनों लोकोंमें पृथ्वी भाग्यवती है; क्योंकि पृथ्वीपर अवतार होते हैं ।

उस पृथ्वीपर सबसे भाग्यवान् वृन्दावन है; क्योंकि यहाँपर सबके साथ मिलकर भगवान्की स्वच्छन्द लीला हुई जो और कहीं नहीं हुई। वृन्दावनकी भूमिपर भगवान्के प्रति सखाओंका, माताओंका और प्रेयसियोंका जो भाव है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। माता-पिता तो वसुदेव-देवकी भी हैं, पर नन्द-यशोदाका जो भाव है, वह वसुदेव-देवकीमें नहीं है। अर्जुन आदि भगवान्के सखा हैं तथा उद्धव भी सखा हैं। भगवान्के साथ इनका बड़ा सौहार्दका सम्बन्ध है, भगवान् इनका सम्मान भी करते हैं, सब कुछ होनेपर भी इस मधुर लीलामें बाळकोंके साथ जिस सद्भक्तका प्राकट्य हुआ वैसा वहाँ नहीं है। यद्यपि सभी पटरानियाँ भी साधारण नहीं हैं; क्योंकि इन्हें श्रीश्यामसुन्दरकी पद्महिषी, महलोंकी पटरानी होनेका सौभाग्य मिला, जो सामान्य बात नहीं है। वे सभी भगवत्स्वरूपा हैं, परम वन्दनीया हैं; परन्तु वहाँ भी एक मर्यादा है, एक सुन्दर आदर्श है, जिसे प्रत्येक स्त्री सामने रख सकती है। यह सब होनेपर भी श्रीगोपाङ्गनाओंका भाव बिल्कुल अलग है। वृन्दावनमें दस-ग्यारह वर्षकी आयुतक जो भगवान्की लीलाएँ हुई, वे सभी अन्यत्र सर्वथा असम्भव हैं। श्रीकृष्ण-वतारमें भी वृन्दावनके अतिरिक्त और कहीं नहीं हैं। इसलिये भगवान्के चरण-चिह्नोंद्वारा अङ्कित एवं स्पर्शित यह वृन्दावनकी भूमि धन्य है। सारी सौभाग्य-लक्ष्मी इसे सहज प्राप्त है। 'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्'—वृन्दावनकी इस भूमिने सारे विश्वमें अपना यश फैला दिया, अन्यथा वृन्दावनको कौन जानता था? श्यामसुन्दरने वृन्दावनमें आकर इस प्रकारकी लीलाएँ कीं। अपने वक्षःस्थलपर वृन्दावनकी भूमिने उनके सारे लीला-नाट्यको सम्पन्न किया। वस्तुतः वृन्दावनकी भूमि भगवान्की लीलाकी रंगभूमि है। भगवान्का मधुरलीलामृत-प्रवाह, जो वृन्दावनमें बहा, वह और कहीं नहीं बहा।

वृन्दावनकी यह भूमि बड़ी पवित्र एवं श्लाघ्य है। स्वर्ग तथा वैकुण्ठ भी श्लाघ्य हैं, पर वृन्दावनमें भगवान् जैसे चरण-स्पर्श करते हैं, दौड़ते हैं, खेळते हैं, आपसमें कुश्ती लड़ते हैं, जमीनपर सो जाते हैं, वैसे वैकुण्ठकी दिव्य भूमिपर नहीं करते। वहाँ तो उनका सारा-का-सारा ब्रह्म बड़ा वर्णन आता है; वैकुण्ठ तथा दिव्य लोकोंका जो वर्णन है उसके अनुसार भगवान्का जमीन-पर पैर रखना ही नहीं होता। वहाँकी जमीन भगवान्के चरणोंका स्पर्श पानेके लिये तरसती है। व्रजमें भगवान् जूता भी नहीं पहनते। जब गाय चराने जाते हैं, तब उनके चरण अनावृत रहते हैं। यदि अनावृत चरण न हों तो उनके चरणचिह्नोंका अङ्कन कैसे हो? बिना जूतीके नंगे पैर वृन्दावनकी भूमिपर चलते और खेळते हैं। गायों तथा पशु-पक्षियोंके पीछे दौड़ते हैं, इनके साथ-साथ दौड़ते हैं। इस अतुलनीय सौभाग्य-सम्पत्तिकी अधिकारिणी यह वृन्दावनकी भूमि है।

'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि'—कहनेमें शुक-देवजीका क्या भाव है, यह तो शुकदेवजी ही जानें; किन्तु शास्त्रोंसे इस बातका अभिप्राय समझमें आ जाता है। बृहद्विष्णुपुराणका एक वचन है—'छे नामनी नन्दभार्याया यशोदा देवकीत्यपि'—नन्दपत्नीके दो नाम थे—यशोदा और देवकी। यहाँ देवकीसुत कहकर दोनों बातें संकेतसे शुकदेवजी महाराजने कह दीं। देवकीके यहाँ जो कंसके कारागारमें प्रकट हुए थे, वे भगवान् भी ये ही हैं और यशोदा मैयाके पुत्र भी ये ही हैं। शङ्का इस तरह होती है कि ये वसुदेवजीके पुत्र हैं, इस बातको तो गोपियाँ जानती नहीं थीं। अबतक नन्दबाबा भी नहीं जानते थे, यशोदा मैया भी नहीं जानती थीं। अबतक तो यही पता था कि ये हमारे ही पुत्र हैं। शुकदेवजीके कथनके सम्बन्धमें कुछ महानुभावोंका मत यह है कि भगवान्के अवतार एक

ही दिन एक समय दो जगह हुए । एक ऐश्वर्यावतार हुआ तथा दूसरा माधुर्यावतार । ऐश्वर्यावतार हुआ कंसके कारागारमें और माधुर्यावतार हुआ नन्दबाबाके घरमें यशोदा मैयाके यहाँ । दशम स्कन्धके पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक इसका प्रमाण है । उसमें शुकदेवजीके वचन हैं 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'—इसका अर्थ है कि नन्दजीके आत्मज—अपना बेटा पैदा हुआ, जिसके उपलक्ष्यमें वहाँ परमोत्सव हुआ । नन्दजीने बड़े-बड़े दान किये, परंतु शुकदेवजी तो जानते थे कि यह देवकीका पुत्र है, वसुदेवका बेटा है, नन्दका नहीं है । तो आत्मज क्यों कहते ? ये कह देते कि 'भाई ! जिसे नन्दने अपना बेटा माना, उस वसुदेवके पुत्रके लिये उत्सव हुआ ।' 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'—नन्दके अपना बेटा उत्पन्न हुआ, यह बात कैसे कही ? परंतु ऐसी बात होनी कोई आश्चर्य नहीं है । भगवान् सर्वसमर्थ हैं ।

एक बार नारदजीके मनमें श्यामसुन्दरकी छीला देखनेका बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ । सोलह हजार रानियोंके पास वे कैसे रहते होंगे, चलो देख आये । वे जा पहुँचे द्वारका । उन्होंने रुक्मिणीके महलमें

भगवान्को भोजन करते देखकर उसी समय सत्यभामाके यहाँ देखा कि वे वहाँ भी खेल रहे हैं । नारदजीने भी अपने योगबलसे, अपनी सिद्धिसे, तपस्यासे सारी रानियोंके यहाँ एक ही समयमें जाकर देखा कि कहीं खेल रहे हैं, कहीं नहा रहे हैं, कहीं सो रहे हैं, कहीं कुछ कर रहे हैं । नारदजी सब समझ गये । भगवत्के दशम स्कन्धके अन्तमें कथा आती है कि जनकपुरीमें राजा बहुलाश्व थे, वहाँ श्रुतदेव नामके एक ब्राह्मण थे । दोनोंने भगवान्को निमन्त्रण दिया कि आप हमारे यहाँ पधारें । भगवान् दोनोंके यहाँ गये । जब भगवान् नगर-के द्वारपर पहुँचे तो दोनों मिले, राजा भी एवं ब्राह्मण भी । दोनोंने कहा—'महाराज ! हमारे यहाँ चलिये ।' राजा बहुलाश्वने देखा कि भगवान् हमारे यहाँ चल रहे हैं और श्रुतदेवने भी देखा कि हमारे यहाँ चल रहे हैं । भगवान् दोनोंके यहाँ गये हैं, वही रथ, वही घोड़े, वही सब । जब योगी भी सिद्धिसे कालनिर्माण कर लेते हैं, युगनिर्माण कर लेते हैं, वस्तु-निर्माण कर लेते हैं तो भगवान्के लिये दो जगह अवतरित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

(क्रमशः)

निष्काम भक्तकी भगवद्भक्ति

(श्रद्धेय श्रीभाईजी)

ममता एकमात्र प्रभु-पदमें, मन प्रभुकी स्मृतिमें ही लीन ।
प्रभुकी इच्छामें सब निज इच्छा अर्पित, मन इच्छा-हीन ॥
प्रभुमें राग अनन्य, चित्त अन्यत्र नित्य आसक्ति-विहीन ।
प्रभु-प्रेमासृत-रस-सागरका जीवन बना निवासी मीन ॥
रहता सदा समाया उनमें, करता नाना भाँति विहार ।
छाये नित रहते प्रभु सभी दिशामें, करते अनुपम प्यार ॥
होते उनमें ही सब मेरे अच्छे-बुरे शुभाशुभ कर्म ।
उनका रखना, मेरा रहना, यही सहज दोनोंका धर्म ॥

भगवान् सगुण हैं या निर्गुण ?

एक सज्जनकी शङ्का थी कि 'भगवान् या ब्रह्मका स्वरूप सगुण है या निर्गुण अथवा दोनों ही ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि भगवान् या ब्रह्मका वस्तुतः क्या स्वरूप है, इसे तो भगवान् या ब्रह्म ही जानते हैं। कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं, तथापि भगवान्को जो जैसा मानते हैं, जिन्होंने जिस प्रणालीसे या जिस स्वरूपकी सेवा करके उनकी उपलब्धि की है, वे उन्हें जैसा बतलाते हैं, वह भी ठीक ही है; क्योंकि वह स्वरूप भी भगवान्में और भगवान्का ही है। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; निराकार भी हैं, साकार भी हैं; सगुण और निराकार-साकार दोनों एक साथ हैं, निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार दोनोंसे परे भी हैं। वे अनिर्वचनीय हैं—अचिन्त्य हैं। इसीसे उपनिषदोंमें तथा शास्त्रोंमें उनके सभी तरहके वर्णन मिलते हैं। उपनिषदोंके कुछ अवतरण देखिये—

निर्गुण—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-
स्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम-
तमोऽवाच्यनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रम-
वागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरतमबाह्यम्।

(बृ० ३।८।८)

'याज्ञवल्क्यजीने कहा—गार्गी! इस अक्षरको ब्रह्मवादी-
जन स्थूलसे भिन्न, अणुसे भिन्न, सूक्ष्मसे भिन्न, दीर्घसे
भिन्न, लाल रंग (किसी रंगविशेष) से भिन्न, चिकने-
पनसे भिन्न, छायासे भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न,
आकाशसे भिन्न, असङ्ग, रससे भिन्न, गन्धसे भिन्न, नेत्रसे
भिन्न, श्रोत्रसे भिन्न, वाणी और मनसे भिन्न, तेजस्से भिन्न,
प्राणसे भिन्न, मुखसे भिन्न, मात्रासे भिन्न, अन्तरसे भिन्न
और बाहरसे भिन्न कहते हैं।'।

अद्वयमव्यवहार्यमप्राप्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-
मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमज्ञैतम्।

(माण्डूक्य० ७)

'वह अद्वय, अव्यवहार्य, अप्राप्य, अलक्षण, अचिन्त्य,
अनिर्वचनीय, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चसे रहित, शान्त,
शिव और अज्ञैत है।'।

अक्षरमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ० १।३।१५)

'जो शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूपरहित है,
अव्यय है, रसरहित है, नित्य है और गन्धरहित है।'।

'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यः' (बृ० ४।२।४)

'वह यह आत्मा 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' इस
प्रकार अप्राप्य है।'।

सगुण—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। (माण्डूक्य० ६)

'वह सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ है, वह अन्तर्यामी
है, वह सबका कारण है, उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति
होती है।'।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः

सर्वरसः सर्वमिदमभ्यासतः।

(छान्दोग्य० ३।१४।४)

'वह सब कर्म करनेवाला है, सब कामनावाला है,
सब गन्धवाला है, सब रसवाला है, इससे सबमें व्याप्त है।'।

एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता
बोद्धा कर्ता विद्वानात्मा पुरुषः। (प्रश्न० ४।९)

'वही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला,
सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला,
करनेवाला, विद्वानात्मा पुरुष है।'।

निर्गुण-सगुण—

एको देवः सर्वभूतेषु मूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

‘एक देव सब भूतोंमें छिपा है, सबमें व्यापक है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अध्यक्ष—फलदाता है, सब भूतोंका वासस्थान है, साक्षी है, चेतन है, केवल है और निर्गुण है ।’

निराकार—

यत्तदद्रेश्यमप्राप्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः-

श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

(मुण्डक० १ । १ । ६)

‘वह जो अदृश्य है, अप्राप्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, चक्षु और श्रोत्रसे रहित है तथा हाथ एवं पैरसे रहित है ।’

साकार—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।

द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनरीश्वरम् ॥

गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलश्रितम् ।

दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥

कालिन्दीजलकलोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।

चिन्तयञ्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य

एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।

तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरा-

स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(गो० पू० ता०)

‘श्रेष्ठ कमल-जैसे नेत्र, मेघयुति, विद्युत्-सदृश पीत अम्बरधारी, द्विभुज, ज्ञानमुद्रायुक्त, वनमाली, ईश्वर, गोप-गोपी और गौओंके रक्षक, कल्पवृक्षके नीचे विराजित, दिव्य अबल्लारोंसे विभूषित, रत्नकमलके बीचमें विराजित, कालिन्दी-के जलकी बहरोंसहित पवनसे सुसेवित श्रीकृष्णका जो चिन्तन करता है, वह संसारसे मुक्त हो जाता है ।’

‘वह एक, वशमें करनेवाला, सर्वव्यापी, पूज्य श्रीकृष्ण, जो एक होकर भी बहुत प्रकारसे दिखायी देता है, उस आश्रयको जो भजते हैं, उन्हींको सनातन सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं ।’

और भी अनेक श्रुतियाँ भगवान्का विविध प्रकारसे वर्णन करती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सगुण भी हैं और निर्गुण भी। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। दो प्रकारके परस्परविरोधी गुण, भाव और स्वरूप जिनमें एक ही साथ एक ही समय रह सकते हों, वे ही तो भगवान् हैं। श्रुति उन्हें निर्गुण भी बतलाती है और सगुण भी। अतएव हमें दोनों ही बातें माननी चाहिये। भगवान्के सम्बन्धमें यह आपत्ति कभी नहीं ठहरती कि वे सगुण-निर्गुण दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं।

कुछ लोग एक और आपत्ति करते हैं—वे कहते हैं कि ब्रह्म तो निष्कल (कल या अंशरहित) हैं। हम यदि सगुण तथा निर्गुण दोनों मानते हैं तो उनका कुछ अंश सगुण होगा और कुछ निर्गुण। यदि ऐसी बात है तब तो वे निष्कल—निरंश नहीं ठहरते हैं और यदि निरंश नहीं ठहरते हैं तब वे ब्रह्म कैसे? श्रुतिमें स्पष्ट ही ब्रह्मको निरंश बतलाया गया है—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधं निरञ्जनम् ।

(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

‘ब्रह्म कल- (अंश-) रहित, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष और मायारहित है ।’ इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मका कुछ अंश निर्गुण है और कुछ सगुण—ऐसी बात नहीं है। ब्रह्ममें अंशकी कल्पना नहीं हो सकती। वह स्वरूपतः ही युगपत् निर्गुण भी है और सगुण भी। परस्परविरोधी गुणोंका उसमें नित्य निवास है, परंतु यदि ऐसा मानें कि ‘निर्गुण ब्रह्मके जितने अंशमें मायाके कारण सगुणता आती है उतना

अंश सगुण है, शेष निर्गुण है, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर तो ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण ही सिद्ध होता है। सगुण तो मायाके कारण भासता है, वस्तुतः है नहीं। केवल निर्गुणवादी महानुभावोंका यही तो कथन है कि 'मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें सगुणताकी प्रतीति होती है। स्वरूपतः ब्रह्म निर्गुण ही है और वही उसका यथार्थ स्वरूप है। ऐसा निर्गुण ब्रह्म कभी सगुण हो नहीं सकता।' पर श्रुतियोंके उपर्युक्त वचनोंसे तथा महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि ब्रह्म या भगवान् सगुण-निर्गुण दोनों हैं। ऐसी अवस्थामें ब्रह्मके स्वरूपतः निरंश होनेपर भी उनमें अंशकी कल्पना करनी पड़ती है। अंश-कल्पनामें आपत्ति यही है कि उसमें न्यूनाधिक होना सम्भव है, परंतु ब्रह्ममें अंश-कल्पना इस प्रकार नहीं होती। जैसे ब्रह्म अनन्त और असीम है वैसे ही उसका अंश भी अनन्त और असीम है। श्रुतिने इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए स्पष्ट कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(ईश०)

'वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है और पूर्णका पूर्ण लेकर पूर्ण ही बचा रहता है।' गणितके अनुसार भी यह सिद्ध है कि अनन्तमेंसे अनन्त निकालनेपर अनन्त ही बचता है।

हमारे इस दृश्य-जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके विषयमें यह कहा जा सके कि उसमें एक ही साथ दो परस्परविरोधी गुण रहते हैं और जो अनेक रूपोंमें विभक्त होनेपर भी एक और परिपूर्ण रहता है।

जो लोग कहते हैं कि मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें सगुणभावकी प्रतीति होती है, उनके कथनपर विचार करनेपर पता लगता है कि वस्तुतः इसमें भी सगुण

स्वरूप ब्रह्मका ही सिद्ध होता है। माया ब्रह्मकी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिके समान अभिन्न हैं। इसलिये ब्रह्म सगुण है या ब्रह्म अपनी शक्तिकी सहायतासे सगुणरूपमें रहता है, इसमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि किसी भी कर्मकी सम्पन्नता शक्तिसे ही होती है, पर वह कार्य है तो शक्तिमान्का ही। अतएव ब्रह्म, जो मायाके सहयोगसे सगुण होता है, इससे यही सिद्ध होता है कि सगुण भी उसका स्वरूप ही है।

शास्त्रोंमें एक ही साथ भगवान्के सगुण-निर्गुणकी व्याख्या और तरहसे भी की गयी है, जो वस्तुतः बहुत समीचीन और युक्तियुक्त प्रतीत होती है। भगवान् प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। इसलिये वे निर्गुण हैं और उनमें उनके स्वरूपभूत अचिन्त्यानन्द दिव्यगुण नित्य निवास करते हैं, इसलिये वे सगुण भी हैं। यों वे 'नित्य निर्गुण' रहते हुए ही 'नित्य सगुण' हैं तथा 'नित्य सगुण' होते हुए ही 'नित्य निर्गुण' हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भगवान् श्रीशंकरजीसे कहा है—

यद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।
वदन्त्युपनिषत्संघा इदमेव ममानघ ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादन्तत्वात्तथेश्वरम् ।
असिद्धत्वात्प्रगुणावां निर्गुणं मां वदन्ति हि ॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर ॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात् प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ॥
मायागुणैर्यतो मेऽंशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम् ।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव ॥

(पद्मपु० पा० ५१ । ६६-७१)

शंकरजी ! मेरे जिस अलौकिक (हानोपादानरहित, देह-देहि-मेदहीन स्वरूपभूत दिव्य भगवद्देह) रूपको

आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है । उपनिषत्समुदाय मेरे इसी रूपको 'निराकार', 'निर्गुण', 'सर्वव्यापी', 'निष्क्रिय' और 'परात्पर ब्रह्म' कहते हैं । मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका (सत्त्व-रज-तमका) अभाव होनेसे और मेरे अंदर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझे 'निर्गुण' कहते हैं और 'अनन्त' होनेसे मुझे 'ईश्वर' कहते हैं । मेरा यह रूप चर्म-चक्षुओंसे देखा नहीं जाता, इसलिये महेश्वर ! ये समस्त वेद मुझे रूपरहित—'निराकार' कहते हैं । अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपञ्चका कर्ता न होनेसे वे मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं; क्योंकि शिवजी ! मैं स्वयं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं ।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌का स्वरूप 'नित्य निर्गुण' और 'नित्य सगुण' किस प्रकार हैं ? इसी बातको बतलानेके लिये तत्त्व-निर्णय करते हुए भागवतकारने बतलाया कि 'तत्त्व' का ही एक नाम 'ब्रह्म' है । तत्त्वविद् लोग इस तत्त्वको 'अद्वयज्ञान' कहते हैं और तीन श्रेणीके साधक इस 'अद्वयज्ञान' को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन भावोंके द्वारा उपलब्ध करते हैं—

यदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

तत्त्व एक ही है, उसकी अनुभूति तीन प्रकारसे होती है । वैष्णव महानुभाव इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि औपनिषद सम्प्रदाय उसे 'ब्रह्म' कहते हैं, हिरण्यगर्भ-सम्प्रदायके योगीगण 'परमात्मा' और वैष्णव उसे 'भगवान्' कहते हैं । जगत्तत्त्व ब्रह्मज्ञान है, आत्म-तत्त्व परमात्मज्ञान या योग है एवं ईश्वरतत्त्व भगवत्-स्वरूप या भक्ति है । ङीळामेदसे ही भगवान् या ब्रह्मके ये तीन स्वरूप हैं, भगवान् सर्वथा-सर्वदा एक ही तत्त्व हैं और वे सगुण, निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं तथा सब कुछसे परे हैं । यह भी केवल समझनेके लिये संकेत है । वस्तुतः भगवान्‌का स्वरूप भगवान् ही जानते हैं । वे किसी भी तर्क या पुरुषार्थसे नहीं जाने जाते, उनके कृपापूर्वक जनानेपर ही किसी भाग्यवान् साधकके द्वारा उनका स्वरूप किसी अंशमें जाना जा सकता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम् ॥
(कठ० १ । २ । २३)

'यह आत्मा न प्रवचनसे प्राप्त होता है, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही । यह स्वयं जिसपर कृपा करता है उसीके सामने अपने आनन्दात्मक स्वरूपका प्रकाश करता है ।'

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'

सबको उनका हिस्सा देकर खाओ

जो कुछ है, मिलता है तुमको, उसमें सबका हिस्सा जान ।
करते रहो नित्य उसमेंसे यथायोग्य सबको ही दान ॥
फिर जो बचा हुआ खाओगे, होगा वह शुचि सुधा-समान ।
उससे यहाँ-वहाँ पाओगे तुम निश्चित सुख-शान्ति महान् ॥

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीराममुखदासजी महाराज)

[सेवा कैसे करें ?]

श्रोता—सेवा करनेके लिये हमारे पास न तो धन है, न बल है, न बुद्धि है, न योग्यता है, न सामर्थ्य है; कोई भी सामग्री हमारे पास नहीं है, पर हम सेवा करना चाहते हैं तो कैसे करें ?

स्वामीजी—बहुत बढ़िया प्रश्न है। इसका उत्तर भी धिया नहीं होगा, ध्यान देकर सुनना। सेवा करनेका अर्थ है—दूसरेका हित हो और प्रसन्नता हो। वर्तमानमें उसकी प्रसन्नता हो और परिणाममें उसका हित (कल्याण) हो, इसके सिवाय सेवा और क्या होती है ?

जब हमारे पास शक्ति नहीं है, तो फिर हम दूसरेकी प्रसन्नता कैसे दें—इसके लिये मैं आपको अपनी दृष्टिमें बहुत बढ़िया बात बताता हूँ। एक धनी आदमी है। उसे घाटा लग जाय, कोई भयंकर बीमारी हो जाय, बेठा मर जाय, ऐसी हालतमें आप उस दुःखमें सहमत हो जाओ कि 'आपका बेटा मर गया, यह बहुत बुरी बात हुई। आपको घाटा लग गया, यह बड़ा कष्टप्रद काम हुआ।' इस तरह हृदयसे उस दुःखमें सम्मिश्रित हो जाओ तो वह प्रसन्न हो जायगा, उसकी सेवा हो जायगी। ऐसे ही किसीके पास बहुत धन-सम्पत्ति हो जाय, लड़का बड़ा होशियार हो जाय तो उसे देखकर हृदयसे खुश हो जाओ और कहो कि बाह-बाह, बहुत अच्छा हुआ ! इससे वह प्रसन्न हो जायगा।

संतोंके उक्त्योंमें आया है—'पर पुन पुन पुन देखे पर' (रा० च० मा० ७।१८।१)। दूसरोंके दुःखसे दुःखी हो जायँ और दूसरोंके सुखसे सुखी हो

जायँ—यह सेवा आप बिना रुपये-पैसेके, बिना बलके, बिना सामग्रीके कर सकते हैं। दूसरोंको दुःखी देखकर आप दुःखी हो जाओ कि 'हे नाथ ! क्या करें ? हमारे पास कोई सामग्री नहीं, धन नहीं, बल नहीं, जिससे हम दूसरेको सुखी कर सकें; हम क्या करें ?'—इस तरह आप हृदयसे दुःखी हो जाओ और दूसरोंको सुखी देखकर हृदयसे प्रसन्न हो जाओ तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। जिसके हृदयमें ऐसा भाव होता है, उस पुरुषके दर्शनमात्रसे जोगोंको शान्ति मिलती है।

धन आदिसे हम दूसरोंकी सेवा करेंगे, उपकार करेंगे, यह बहुत ही स्थूल बुद्धि है। मैं तो कहता हूँ कि नीच बुद्धि है। आपने सेवाको महत्त्व नहीं दिया है। धनको महत्त्व दिया है। जो धनको महत्त्व देता है, वह नीच है। जो आपके हाथका मैल है, उसे आप अपनेसे भी बढ़कर महत्त्व देते हो और जोगोंकी सेवाके लिये भी उसकी आवश्यकता समझते हो—यह बहुत ही खोटी (खराब) बुद्धि है। धन आदिसे सेवा करनेपर अभिमान होता है, तिरस्कार होता है। जिसकी सेवा करोगे, उसपर भी रोब जमाओगे कि हमने इतना तुम्हें दिया है, इतनी तुम्हारी सहायता की है। वह यदि आपके विरुद्ध हो जायगा तो निन्दा करोगे कि देखो, हमने इसकी इतनी सहायता की और यह हमारा विरोध करता है। इस प्रकार संघर्ष पैदा होगा। आप अपनी विद्वत्तासे सेवा करोगे और कहीं दूसरा भी ऐसा करेगा तो ईर्ष्या पैदा होगी। हम बढ़िया व्याख्यान देते हैं और दूसरेका व्याख्यान हमारेसे भी बढ़िया हो गया तो ईर्ष्या होगी। कहते हो कि जनताकी सेवा करते हैं, पर वास्तवमें सेवा नहीं करते हो, उड़ाई करते हो।

ऐसे आदमी बहुत कम मिलेंगे, जो वास्तवमें सेवा करते हैं। हम राम-नामका माहात्म्य बताते हैं, लोगो-को नाम-जपमें लगाते हैं, पर दूसरा कोई लोगोको नाम-जपमें लगाता है तो वह इतना नहीं सुहाता। हमारे कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम राजी होते हैं, पर दूसरेके कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम उतने राजी नहीं होते, जब कि हमें उससे भी ज्यादा राजी होना चाहिये कि हमारा परिश्रम तो हुआ नहीं और काम हमारा हो गया।

कोई व्यक्ति हमारे मतको नहीं मानता, हमारे सिद्धान्तको नहीं मानता, प्रत्युत हमारे सिद्धान्तका खण्डन करता है, हमारी मान्यताका, हमारी साधन-पद्धतिका खण्डन करता है, पर राम-नामका प्रचार करता है, लोगोसे नाम-जप करनेके लिये कहता है, तो उससे हमारे भीतर क्या बुद्धि पैदा होती है ? हमें नामका प्रचार तो अच्छा लग जायगा, पर उसके कहनेसे लोग नाम-जप करते हैं—यह अच्छा नहीं लगेगा; क्योंकि वह हमारे सिद्धान्तका, हमारे मतका, हमारी साधन-प्रणालीका खण्डन करता है। इस प्रकार हम खण्डनको जितना महत्त्व देते हैं, उतना नामके प्रचारको नहीं देते। हम नामके प्रेमी नहीं हैं, हम अपने मतके, अपने गुरुके प्रेमी हैं। हमारे गुरुजीको मानो, तब तो ठीक है, पर हमारे गुरुजीको नहीं मानो और राम-राम करो तो कुछ नहीं होगा—यह मतवालेकी बात है। अगर वास्तवमें हमें नामकी महिमा अभीष्ट है तो कोई नास्तिक-से-नास्तिक, नीच-से-नीच व्यक्ति भी नामकी महिमा कहे तो मन-ही-मन आनन्द आना चाहिये, हृदयमें उल्लास होना चाहिये कि वाह-वाह, इसने बहुत बढ़िया बात कही। इसका नाम है—सेवा।

दूसरेका सदाव्रत बहुत अच्छा श्रद्धा है, वह बढ़िया भोजन देता है और सबका आदर करता है। लोगोमें

उसकी महिमा होती है। हम भी सदाव्रत खोजते हैं, पर हमारी महिमा नहीं होती तो हमारे भीतर ईर्ष्या होती है कि नहीं ? अगर ईर्ष्या होती है तो हमारे द्वारा बढ़िया सेवा नहीं हुई। वास्तवमें तो हमें खुशी आनी चाहिये कि वहाँ बढ़िया भोजन मिलता है, हमारे यहाँ तो साधारण भोजन मिलता है। हम उपकारका जो काम करते हैं, वही काम दूसरा आरम्भ कर दे तो उससे हमारे ईर्ष्या पैदा होती है, द्वेष पैदा होता है तो यह हम सेवा नहीं कर रहे हैं, सेवाका वहम है।

किसी भी तरहसे किसीके द्वारा ही सेवा हो जाय तो हम प्रसन्न हो जायँ। जो सेवा करता है, उसे देखकर और जिनकी सेवा होती है, उन्हें देखकर हम प्रसन्न हो जायँ कि वाह-वाह, कितनी बढ़िया बात है। हमारे पास एक कौड़ी भी लगानेको नहीं हो, पर हम प्रसन्न हो जायँ, उस सेवामें सहमत हो जायँ तो हमारे द्वारा सेवा हो जायगी। बोले, इसमें क्या कठिनाता है ? इसमें कोई सामग्री नहीं चाहिये, अपना हृदय चाहिये। सेवा वस्तुओंसे नहीं होती, हृदयसे होती है।

लोगोंमें यह वहम रहता है कि इतना धन हो जाय तो हम ऐसी-ऐसी सेवा करेंगे। विचार करना चाहिये कि जिनके पास उतना धन है, वे सेवा करते हैं क्या ? वे तो सेवा नहीं करते, और हम करेंगे। जब धन हो जाय, तब देखना ! नहीं होगी सेवा। जिस समय पैसा हो जायगा, उस समय यह भाव नहीं रहेगा। भाव बदल जायगा। हमने देखे हैं ऐसे आदमी। केवल पुस्तकोंकी बात नहीं कहता हूँ। कलकत्तेके एक सज्जन दण्डा करतें थे और स्वर्गश्रम, श्रमिकेशमें सस्संगके लिये आया करते थे। बड़ा उत्तम स्वभाव था उनका। वे कहते थे कि हम तो दण्डा करतें हैं, वह भी छोड़कर सस्संगमें आ जाते हैं और

इनके पास इतना-इतना धन है, पर ये सत्संगमें नहीं आते। इन्हें क्या बाधा लगती है ? परंतु आगे चलकर जब उनके पास धन हो गया, तब उनका सत्संगमें आना कम हो गया। उन्हें सत्संगमें आनेका समय ही नहीं मिलता। कारण कि धन बढ़ेगा तो कारोबार भी बढ़ेगा और कारोबार बढ़ेगा तो समय कम मिलेगा। अतः जबतक धन नहीं है, तबतक और विचार रहता है, पर धन होनेपर वह विचार नहीं रहता। किसी-किसीका वह विचार रह भी जाता है, पर वे शूरवीर ही हैं, जिन्होंने धनको पचा लिया। प्रायः धन पचता नहीं, अजीर्ण हो जाता है। बलका अजीर्ण हो जाता है। पहले विचार रहता है कि बल हो तो हम ऐसा-ऐसा करें, पर बल होनेपर निर्वलको दबाते हैं। जब बोट माँगते हैं, उस समय कहते हैं कि हम आपकी सेवाके लिये ये-ये काम करेंगे, पर मिनिस्टर बननेपर आपको पूछेंगे भी नहीं। क्या यह सेवा है ? यह सेवा नहीं है, स्वार्थ है। एक गाँवमें एक आदमी गया तो उसने कहा कि तुम्हारे गाँवमें इतना कूड़ा-कचरा पड़ा है, क्या सफाई करनेके लिये मेहतर नहीं आता ? वे बोले—पाँच वर्षके बाद आता है मेहतर। पहले कोई नहीं आता। जब लोग बोट माँगने आते हैं, तब मेहतर आता है।

दूसरा कोई सेवा करता है तो हमारेको बुरा क्यों लगता है ? इसलिये कि हमारी महिमा नहीं हुई, उसकी महिमा हो गयी। उसने अन्धश्रेय खोब दिया, विद्यालय खोब

दिया, व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया तो उसकी महिमा हो गयी, हमारी महिमा नहीं हुई। यह सेवा करना है या अपनी महिमा चाहना है ? कसौटी कसकर देखो तो पता लगे। सेवाका तो बहाना है। अच्छाईके चोलेमें बुराई रहती है—‘काळनेभि जिमि रावन राहू’। ऊपर अच्छाईका चोला है, भीतर बुराई भरी है। यह बुराई भयंकर होती है। जो बुराई चौड़े (प्रत्यक्ष) होती है, वह इतनी भयंकर नहीं होती, जितनी यह भयंकर होती है।

असली सेवा करनेका जिसका भाव होगा, वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी हो जायगा। दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी न होकर कोई सेवा कर सकता है क्या ? जबतक दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी नहीं होगा, तबतक सेवा नहीं होगी। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होगा, वह अपना सुख दूसरोंको देगा, स्वयं सुख नहीं लेगा; और जो दूसरोंके सुखसे सुखी होगा, उसे अपने सुखके लिये संग्रह नहीं करना पड़ेगा। यह बात कण्ठस्थ कर लो कि दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेवालेको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता और दूसरोंके सुखसे सुखी होनेवालेको अपने सुखके लिये भोग और संग्रह नहीं करना पड़ता।

संसारसे मिली हुई सामग्रीको अपनी मानकर सेवामें लगाओगे तो अभिमान आयेगा। अतः सेवाके लिये सामग्रीकी नहीं, हृदयकी आवश्यकता है।

भजनसे परम धामकी प्राप्ति

जन्म-मरणके घोर चक्रका तबतक कभी न होगा अंत ।
जबतक मानव नहीं भजेगा श्रद्धायुत मनसे भगवंत ॥
दुःखयोनि भोगोंका मोह छुड़ाकर भजन बनाता संत ।
पा जाता फिर इससे मानव सुखमय नित पर-धाम अनंत ॥

मानसमें व्यवहारकुशलता

(पं० श्रीरामकिंकरजी उपाध्याय)

बहुधा मानसको लोग आदरणीय ग्रन्थ मानकर उसका पाठ तो कर लेते हैं, पर उसमें लौकिक, पारलौकिक उन्नतिके जो अनोखे सूत्र हैं उनपर ध्यान ही नहीं देते । हमें कब, कहाँ, कैसे हँसना और बोलना चाहिये, यह बहुत थोड़े लोग जानते हैं । व्यवहारकुशल व्यक्ति ही समाजमें आदरका भागी होता है और इसका जानना सामाजिक पुरुषके लिये अत्यावश्यक है ।

मानसके चरित्रनायक श्रीराघवेन्द्र सर्वगुणसम्पन्न हैं । आपको तथा आपकी वाणीको गोस्वामीजीने स्वयं सर्वदोषशून्य बताया है—

बोले बचन विगत सब कूषण । मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषण ॥

यदि वास्तवमें कोई बोलना सीखना चाहे तो उसे श्रीरामका अनुकरण करना चाहिये । श्रेष्ठ वाणी वह है, जो शत्रुके हृदयमें भी स्थान कर ले । इसीसे मानसमें बताया गया है—

बैरिउ राम बढ़ाई करहीं । बोलनि मिलनि विनय मन हरहीं ॥

यह केवल 'प्रिय सत्य' से ही सम्भव है । सत्य यद्यपि वाणीका प्रधान गुण है, पर सत्य यदि किसीके हृदयको व्यथित करे या सर्वनाशकी ओर ले जाय तब भला उसकी प्रशंसा कैसे की जा सकती है ? न तो उससे सुननेवालेका भला हो, न कहनेवालेका । 'सत्य, प्रिय और हित'—ये ही वाणीके तीन प्रधान गुण हैं—

बोले बचन बानि सरबसु से । हित परिनाम सुनत ससि रसु से ॥

तीनों गुणोंमें एककी भी कमी वाणीको दोषयुक्त बना सकती है । श्रीपरशुरामजीके वार्तालापमें श्रीराघवेन्द्रकी वाक्चातुरीके अद्भुत दर्शन होते हैं । इसीसे मानसरूपकमें

श्रीपरशुरामजीकी क्रोधभरी वाणीको नदीकी भयंकर धारा बतलाया गया है, जो सबका सर्वनाश करनेपर तुली हुई है । किनारोंको तोड़ देना इसका प्रथम कार्य है । पर श्रीराघवेन्द्रकी वाणी मानो एक ऐसा सुदृढ़ घाट है जिसपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु वह उस धाराको ही शान्त कर देती है—

घोर धार भृगुनाथ रिसानी । घाट सुबद्ध राम बर बानी ॥

श्रीरामकी वाणीको 'मृदु गूढ़' कहा गया है । आदिसे अन्ततक नम्रतासे उन्होंने जो कुछ कहा है, उसे सुनकर श्रीपरशुरामजी आश्चर्यचकित रह जाते हैं । ईश्वरत्वका दृढ़ प्रतिपादन, पर बड़े ही प्रिय शब्दोंमें, साथ-ही-साथ श्रीपरशुरामजीके ब्राह्मणत्वकी महिमा भी । स्पष्टरूपसे श्रीराघवेन्द्र यह कह देते हैं—

विप्र बंस की असि प्रभुताई । अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥

—सुननेमें उनकी महत्ताका प्रतिपादक है, पर साथ-साथ इसमें गुप्त निर्देश भी है—'न तो आपके ईश्वरत्वसे हमें भय है न वीरत्वसे । हम तो केवल आपके ब्राह्मणत्वसे डरते हैं ।' यह उनके 'निपटहि द्विज करि जानहि मोहों' का दृढ़ उत्तर था, पर इसे जिस ढंगसे कहा गया था वह अत्यन्त हृदयग्राही था । 'अकारन कोही' श्रीपरशुरामजीका सारा क्रोध केवल उनकी वाक्-चातुरीसे शान्त हो जाता है । अन्तमें उनकी स्तुति करते हुए वे उनको 'बचन रचना अति नागर' की उपाधि देते हैं—

विनय सील कहना सुख सागर । जयति बचन रचना अति नागर ॥

यह कठोर सत्यको प्रिय बना देनेका रूप है । जिन बातोंको सुनकर श्रीलक्ष्मणजीपर श्रीपरशुरामजी क्रुद्ध हुए, ठीक वे ही बातें श्रीराघवेन्द्रने कहीं । पर केवल कहनेके

अन्तरसे ही एक आहुति-सरिस थी, तो दूसरी जळ-सरिस ।
श्रीलक्ष्मण—

छुअत दूट रघुपतिहु न दोष । मुनि बिनु काज करिअ कत रोसु ॥
भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी । जो कहु कहहु सहउ रिस रोकी ॥
तुम्ह तौ कालु हाँक जुनु लावा । बार बार मोहि लागि बोलावा ॥

जो बिलोकि अनुचित कहेलँ छमहु महामुनि धीर ।
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई । हमरें कुल इन्ह पर न सुराई ॥

श्रीराम—

छुअतहि दूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करौ अभिमाना ॥
जौ तुम्ह ओतेहु मुनि को नाई । पदरज सिर सिमु भरत गोसाई ॥
कहउ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी । कालहु हरहि न रन रघुबंसी ॥
करिअ कृपासिमु सेवक जानी । तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी ॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई । अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥

यहाँ तुलनाका तात्पर्य श्रीलक्ष्मणजीका दोष बताना नहीं है । ये तो श्रीरामके प्रति एकान्तनिष्ठाके सूचक वाक्य हैं, जो उनके लिये सर्वाङ्ग-सुन्दर ही हैं ।

कठोर सत्यको प्रिय बनाकर कहनेका एक उदाहरण बड़ा सुन्दर है—श्रीराघवेन्द्रको कैकेयीजीने वन जानेकी आज्ञा दी । अब आप कौसल्या माताके पास आज्ञा लेने जाते हैं । माताके हृदयमें तो आज आनन्दोल्लासका स्रोत उमड़ रहा है । उन्हें इस कुचालका कोई पता ही नहीं । जाते ही वे कहती हैं—‘कस राम ! आज तुम्हारा राज्याभिषेक होनेवाला है, कुछ फल खा लो, फिर पिताके निकट जाना ।’ श्रीकोसलेन्द्र बड़ी चतुरतासे काम लेते हैं । वे जानते हैं कि इतना कठोर समाचार सुनकर सम्भव है कुछ कठिन स्थिति न हो जाय । अतः दुःखमें भी सुख देखनेवाले श्रीराम उत्तर देते हैं—‘माँ ! मेरा राज्याभिषेक हो गया ।’ माँ मौनकी रह जाती है—‘कब कैसे ? मुझे पता भी नहीं !’ ‘हाँ, माँ ! न यहाँका सही, दूसरे स्थानका । फिर मेरी आवश्यकता जो वहाँ है’—
पिता दीन्ह मोहि कानत राज । अहं अथ अति और बड़ काज ॥

धन्य श्रीराघवेन्द्र ! आपके उदार हृदयकी तथा आपके अद्भुत वाणी-कौशलकी कौन बड़ाई करे । कुछ अवसरोंपर सत्य कहनेकी भी आवश्यकता नहीं । सुमन्तजी श्रीरामको गङ्गातटतक पहुँचाकर लौटते हैं । श्रीदशरथजीकी आज्ञा थी कि कम-से-कम सीताको लौटा दाना, नहीं तो मेरे प्राण नहीं बचेंगे ।

सुमन्तजीसे श्रीदशरथजी पूछते हैं—‘मेरी पुत्रवधूने क्या कहा ?’ सुमन्तजी चतुर हैं, वे जानते हैं कि श्रीसीताजीने जो कुछ कहा है वह पतिप्रेमके अनुकूल होते हुए भी श्रीमहाराजको मर्माहत करनेवाला होगा । ऐसी संकटापन्न स्थितिमें सत्य कहना इन्हें मृत्युके मुखमें डालना होगा । अस्तु, आप उत्तर देते हैं—

कहि प्रनामु कहु कहन लिय सिय भइ सिधिल सनेह ।
धकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह ॥
तेहि अवसर रघुबर रुख पाई । केवट पारहि नाव चलाई ॥

किसी राग अथवा दुःखितके निकट हमें कितनी सावधानीसे बोलना चाहिये, इसका एक उदाहरण है ।

वे बड़ी सावधानीसे उन्हें स्वस्थ कर सकनेयोग्य बातें कहते हैं । आपने यह भी सोचा कि कहीं श्रीदशरथजी ऐसा न समझते हों कि वन देनेके कारण श्रीराघवेन्द्र मुझपर कम प्रेम रखते होंगे ? इसीलिये श्रीराघवेन्द्रकी रोकी हुई श्रीलक्ष्मणजीद्वारा प्रयुक्त बातको भी आप प्रकट कर देते हैं—

लखन कहे कहु बचन कठोरा । बरजि राम पुनि मोहि निहोरा ॥
बार बार निज सपथ देवाई । कहबि न तात लखन लरिकाई ॥

‘लखन बान धनु धरे बनाई’ कहकर यह भी सूचित कर देते हैं कि आपके श्रीराम अरक्षित नहीं हैं, उन्हें एक योग्य प्रेमी सेवक मिला है, जो उनके कष्टसे पिताको कटु वचन कह सकता है—‘वह भैया किसी शत्रुको कैसे छोड़ेगा ? यह भी श्रीलक्ष्मणजीकी प्रशंसामें ही है और इससे श्रीदशरथजीको भी सुख तथा संतोष

ही होगा। किसीकी अनुचित बातका अथवा अपने मतसे न मिलती हुई बातका खण्डन करते समय प्रायः ऐसा कटु वातावरण पैदा हो जाता है जो बहुत दिनोंतक अत्यन्त दुःखद रहता है।

किसीकी बातका खण्डन करते समय भी उसे कैसे प्रसन्न किया जा सकता है? श्रीभरतजीका ससैन्य आगमन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी सदेहयुक्त वीरभावके आवेशमें उनका वध करनेको तैयार हो जाते हैं। आकाशमें देवाण भयभीत हो गये और उन लोगोंने श्रीलक्ष्मणजीको सावधान किया, पर कितने सुन्दर ढंगसे। पहले श्रीलक्ष्मणजीकी प्रशंसा और पुनः वास्तविक बात बड़े प्रिय शब्दोंमें—

जगु भय भगन गगन भइ बानी। लखन बाहुबलु बिपुल बखानी॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननि द्वारा॥
अनुचित उचित काहु किछु होऊ। असमुझि करिअ भल कह सब कोऊ
सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥

श्रीलक्ष्मणजी तुरन्त संकुचित हो जाते हैं। उन्हें अपनी भूल ज्ञात होने लगती है, पर उस समय श्रीराघवेन्द्र और श्रीकिशोरीजी उनकी लज्जा मिटानेके लिये उन्हें प्रेमसे अपने बीच खींचकर बैठा लेते हैं। यद्यपि आपको भी श्रीलक्ष्मणजीका मत मान्य नहीं है, आगे आप भी श्रीभरतजीकी महानता बतायेंगे, पर पहले आप यही कहते हैं—
'मैया लक्ष्मण! तुमने नीतिकी दृष्टिसे बड़ी सुन्दर बात कही, वास्तवमें राजमद अत्यन्त कठिन मद है—
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमदु भाई॥

इसके बाद वे श्रीभरतजीके विषयमें राजमदक असम्भव बताते हैं। पर इसमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रति कटुता नहीं, अगाध प्रेम है। यह उचित वाणीके कुछ उदाहरण हैं।

इसी प्रकार हँसनेमें भी लोग समाजका ध्यान नहीं रखते, चाहे जहाँ गला फाड़कर हँस पड़ते हैं। मानसमें हँसीके भी छः भेद किये गये हैं—(१) मनमें मुसकराना, (२) मधुर मुसकान, (३) मुसकान, (४) हँसना, (५) बिहँसना और (६) अट्टहास।

जहाँ हृदयमें तो प्रसन्नता हो, पर वातावरण क्रोध या दुःखका हो, वहाँ उसे ऊपर न प्रकट होने देना विष्ट व्यक्ति का कर्तव्य है। यथा—

भृगुपति बकहिं कुठार उठाए। मन मुसुकाहिं राम सिर नाए॥

यदि श्रीराघवेन्द्र मुसकरा देते तो श्रीपरशुरामजी अवश्य क्रुद्ध हो जाते, जैसा कि श्रीलक्ष्मणजीके प्रति स्पष्ट है—
हँसत देखि मद्य सिद्ध दिस व्यापी। राम तोर भ्राता बध पापी॥

कैकेयीजीके निकट दुःखका वातावरण है। वहाँ भी हृदयकी प्रसन्नताको श्रीराघवेन्द्र ऊपर नहीं आने देते हैं—'मन मुसुकाइ भानुकुल भानू'।

जहाँ आनन्द तो हो, पर वहाँ कोई अपनेसे बड़ा हो और वह व्याकुल हो, वहाँ चेहरेपर प्रसन्नताके भाव भले ही आ जायँ, पर वह ओष्ठोंपर नहीं आना चाहिये। नहीं तो विलोदका आनन्द न रहेगा तथा अशिष्टता भी होगी। यथा—
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥

जहाँ अपनेसे बड़े हों वहाँ प्रसन्नतामें दाँत न दीखने चाहिये, केवल मुसकराना ही उचित है। यथा—
परम बिनीत लकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥

उपर्युक्त तीन प्रकारकी हँसी ही अपनेसे बड़ोंके सामने करनी चाहिये। अपनेसे छोटे या बराबरीवालोंके सामने विनोदमें हँसना चाहिये—

हँसत रामु श्री अजुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता॥

अत्यन्त आह्लादमें प्रेमियोंके समक्ष खुन्न खुलकर हँसना आनन्दवर्धक है। यथा—

(१) सुनि केवट के बैन प्रेम रूपे टे अटपटे।

बिहँसे करुना ऐन चितइ जानफी लखन तन॥

(२) देखि कृपानिधि सुनि चतुराई। किए संग बिहँसे दोठ भाई॥

बस, यही पाँच प्रकारकी हँसी समाजके योग्य है। ठठा अट्टहास है, जिसमें कुछ क्रूरताका अंश है। यह वीरोंमें पायी जाती है। यथा—

(१) हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मल्ल उतथास।

अट्टहास करि गर्जी फिपि बड़ि लाग अकास॥

(२) अस कहि अट्टहास सठ कोन्हा। गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा॥

ये तो मानसके बहुत थोड़ेसे उदाहरण दिये गये हैं।

ध्यानसे पढ़नेपर उसमें समाजके योग्य सभी बातें भिन्न जायँगी, जिन्हें जानकर हम भारतीय शिक्षाचारका हृदय का देब सकेंगे।

उद्धव-संदेश—१६

(डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

पूर्वजन्मे राम हृदया, बाली कपि विनासिया,
येह कैल ब्याधेर आचार ।
सूर्यपन्थार नासाकर्ण, ताहा कैल छिन्न भिन्न,
बढ़ई निर्दय मन तार ॥
पुनश्च वामन हृदया, बलिर सर्वस्व लहया,
इद बन्धन करिल ताहार ।
हेन कृष्णवर्ण ये, तार सख्य चाहे के,
तबु तार कथा छाड़ा दाय ॥

‘पूर्वजन्ममें श्रीराम होकर वानरराज बालीको मारकर व्याधके अनुरूप आचरण किया, सूर्यपन्थाके नाक-कान काटकर अपनी निर्दयता प्रकट की । पुनः वामन होकर राजा बलिका सर्वस्व हरण करके उसे बन्धनमें डाल दिया । इस प्रकारके कृष्णवर्णवाले व्यक्तियोंकी सख्यता चाहता कौन है ? किंतु हाय ! उसकी लीला-कथाका त्याग करना अत्यन्त दुष्कर है ।’

‘दुस्त्यजस्तत्कथार्थः’—मैं गोविन्दकी लीला-कथा-सम्पदका कदापि त्याग नहीं कर पा रही हूँ । उसकी चरम निर्दयताका मुझे पता लग गया है, इसलिये उसका तो मैंने पूर्णतः परित्याग कर ही दिया है, किंतु हाय ! उसकी कथाका त्याग नहीं कर सकी । इस प्रकार बोलते-बोलते ही श्रीराधाका मन श्रीकृष्ण-कथाकी भावनामें डूब गया । प्रथमतः तो श्रीराधाका स्वाभाविक वास्यभाव, द्वितीयतः उनकी दिव्योन्माद-अवस्था और तदुपरि भ्रमरको श्रीकृष्ण-प्रेरित दूत समझकर उसके दर्शनसे मानवती बनी हुई हैं । इसीलिये अनन्यसाधारण वक्रिमावश श्रीकृष्ण-कथाके दोष गिना-गिनाकर उद्गार प्रकट करने लगीं—

‘श्रीकृष्णकी कथा रमणीय अवश्य है, किंतु है केवल आपातकर्ण-सुखकर । जो सुनता है, उसकी ही क्षति

होती है । धार्मिक व्यक्ति सुनकर धर्मके प्रति आस्था-हीन हो जाता है, धनी व्यक्ति सुनकर धनके प्रति आदरशून्य हो जाता है और भोगी सुनकर भोगोंके प्रति आसक्तिहीन हो जाता है । समझमें नहीं आता कि उसकी कथामें ऐसी कौन-सी मायामयी मोहिनी शक्ति है ? उसकी सुरत भी जैसी मोहिनी है—अपनी मोहिनी मूर्तिसे वह शिवतकको भ्रममें डाल देता है, उसकी कथा भी वैसी ही है—जो सुनता है वही अपने स्नेह और आदरके पात्र-सभीको भुजा देता है ।

‘इस कथाका तो एक कणमात्र आस्वादन करनेपर ही मनुष्यका द्वन्द्वधर्म नष्ट हो जाता है । स्त्री सुनती है तो उसका अपने पतिके प्रति प्रेम समाप्त हो जाता है । पति सुनता है तो उसकी पत्नीके प्रति आसक्ति दूर हो जाती है । पुत्रकी माता-पिताके प्रति श्रद्धा नष्ट हो जाती है और माता-पिताकी संतानके प्रति ममता समाप्त हो जाती है । कौंसी मादकता है उसकी कथामें । वह जिसीके कर्णमें प्रवेश करेगी, उसीका सर्वनाश कर देगी । जिनका चित्त अत्यन्त कोमल है, जो अतीव स्नेहपरायण हैं, वे भी कुठिल श्रीकृष्णकी लीला-कथा सुनते ही एकदम दयाहीन और निर्मम हो जाते हैं तथा अपने अत्यन्त दीन-दरिद्र असहाय माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्रतकको साधारण भावसे ही परित्याग करके चले जाते हैं, उनके मनमें इसके लिये कतई कुण्ठाबोध नहीं होता । इस प्रकारके स्नेह-प्रवण व्यक्तियोंका भी इस सीमातक निर्दयताका व्यवहार देखकर ही मनमें यह बात पक्की जम जाती है कि श्रीकृष्णकथा-श्रवण-हेतु ही उनका ऐसा स्वभाव बन गया है (सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीनाः) ।

‘निर्दय होकर, सब कुछ छोड़-छाड़कर, अन्तमें यदि वे स्वयं अल्पमात्रामें भी सुखी हो सकते तो भी मनको किंचित् प्रबोध दिया जा सकता था, किंतु ऐसा भी नहीं होता। वे डोंग पक्षियोंकी तरह चुग-चुगकर अपना उदरपोषण करते हैं और भिक्षुधर्मद्वारा जीवन-धारण करते हैं (भिक्षुचर्या चरन्ति)। वे भानो एकदम पक्षी ही हो जाते हैं। पक्षी भी उद्धयनक्षम पक्षी नहीं, हंस। हंस भी छोटे हंस नहीं, बड़े परमहंस। इस प्रकारके मनुष्योंकी संख्या भी कोई दो-चार ही नहीं होती, बहुत होती है (बहव इह विद्वङ्गाः)। श्रीकृष्णकी ढीळा-कथा सुनकर जिन मनुष्योंने अपार दुःखोंका वरण किया है, उनकी संख्या सहस्रोंमें है। उनकी दुर्गतिका मूल कारण ढीळा-कथा-श्रवण ही है। जो इस ढीळा-कथाको ग्रन्थाकारमें लिखकर या वाणीद्वारा प्रचार करते हैं, वे तो साधुवेभी परपीडक और हत्यारे हैं। अन्यको दुःख देना ही उनका स्वभाव है। अन्यको दुःखी देखकर वे सुखका अनुभव करते हैं। कोई हरि-कथा सुनकर अश्रुपात करता है तो ऐसे डोंग सुखी होकर उसकी प्रशंसा करते हैं।’

श्रीराधाने वाम्पस्वभाव-हेतु श्रीकृष्ण-कथाकी उपर्युक्त जो समस्त विपरीत महिमाका कीर्तन किया, मूलतः वह सभी तथ्य है। व्याज-स्तुतिद्वारा इससे श्रीकृष्ण-कथाकी सर्वोत्कृष्टता ही प्रकाशित हुई। सचमुच ही हरि-कथामें ऐसा मोहन माधुर्य भरा पड़ा है कि यह जिस व्यक्तिके भी कर्णगोचर होती है, उसके मनमें जागतिक विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वह फिर अहर्निश पक्षीकी तरह व्रज-व्रीथियोंमें भगवद्गुणगान करता हुआ मस्त बना घूमता रहता है। वनवासी होकर मधुकरीद्वारा ही अपना निर्वाह करता है ‘बहव इह विद्वङ्गा भिक्षु-चर्या चरन्ति’—पक्षी होकर भिक्षावृत्तिद्वारा जीवन-यापन करता है। श्रीकृष्ण-कथा सज्जनोंको दुःख देती है, अतः

उसका त्याग करना ही उचित है, किंतु मैं किसी भी प्रकारसे उसका त्याग नहीं कर पा रही हूँ।

यदनुचरितलीलाकर्णवीर्यूपविप्रुट्-

सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना

बहव इह विद्वङ्गा भिक्षुचर्या चरन्ति ॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।१८)

अनुतापभङ्गिसे दोषोंका उद्धार होनेके कारण इस श्लोकमें ‘चित्रजल्प’का ‘अभिजल्प’ नामक भेद प्रकटित हुआ है। उसके लक्षण हैं—

भङ्ग्या त्यागौचित्यं तस्य खगानामपि खेदनात्।

यत्र सानुशयं प्रोक्तं तद् भेदमभिजल्पितम् ॥

विरहिणी श्रीराधिका भावकर्णोंद्वारा भ्रमर-गुञ्जन सुन रही हैं। भ्रमर कह रहा है—‘देवि ! पहले प्रियतमका संदेश तो श्रवण करो, फिर उसपर विचार करके जो जँचे सो कहियेगा।’ श्रीराधा बोली—‘नहीं रे, और नहीं सुनूँगी। उस कपटीकी बात अब और नहीं सुनूँगी।’ उससे पूर्वमें बहुत सुन चुकी हूँ। उसकी कुटिलताभरी बातें सुननेका पहले भी अनेक प्रयोग मिळ चुका है (जित्वाव्याहृतम्)। जिस प्रकार हरिणियाँ व्याधका गान सुनकर मुग्ध हो जाया करती हैं, वैसी ही दशा हमारी हो चुकी है (कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवच्चो हरिण्यः), किंतु उसका फल क्या हुआ ! व्याधकी वंशीकी मधुर तान श्रवण कर मुग्ध होनेका अर्थ है—‘व्याधके शराघातसे प्राणत्याग।’ तेरे सखा कपटी श्रीकृष्णके मिथ्या वाक्योंद्वारा मुग्ध होनेका फल भी वही है। उसके नखस्पर्शमें जो तीव्र विष भरा है उसके अन्तर्दाहसे प्राण निकले जा रहे हैं। हरिणियाँ बाणाघातसे मर तो जाती हैं, जिससे मृत्युके पश्चात् ज्वाला तो नहीं सहन करनी पड़ती, किंतु हम तो मर भी नहीं पा रही हैं, कारण, उसके नख-स्पर्शमें एक अमृत-कण भी छिपा है। हमने उसी अमृतका आस्वादन कर लिया है।

उसका स्पर्श ही विषामृतमिश्रित है। विषसे होती है मृत्यु-तुल्य जलन और अमृत मरने नहीं देता। ताप-ज्वालाको चिरस्थायी बना देता है।

‘अरे छलियेके मन्त्री ! छल-विषाविशारद भ्रमर ! अब चुप क्यों हो गया ! सुन-इस श्रीकृष्ण-कथाका चिरस्थायी करके कोई अन्य वार्ता सुना (भण्यतामन्यवार्ता) । एक श्रीकृष्ण-कथाके अतिरिक्त हम सब कुछ सुननेको तैयार हैं। दूसरी सब बातें अच्छी हैं। तू श्रीकृष्ण-कथाके अतिरिक्त अन्य कुछ जानता ही नहीं क्या !

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्धाढाः

कुलिकरुतमिवाह्वाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।

दृढशूरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-

स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४७ । १९)

‘अन्य क्या कहो सुखे, सुनि मने पाद सुखे,
ना करिह कृष्णेर वर्णन ।’

‘अपने मुखसे श्रीकृष्ण-कथाके अतिरिक्त अन्य कुछ बोलो, जिसे सुनकर मनमें शान्ति मिले; श्रीकृष्ण-कथाका वर्णन मत करो ।’

इस ‘चित्रजल्प’में श्रीकृष्ण-कथाकी अत्यन्त निर्वेदयुक्त कुटिलता एवं दुःखदायकताका वर्णन हुआ है। साय-साय तत्कथाके अतिरिक्त अन्य कथाकी सुखदायकताकी ओर भी इंगित रहा है। ‘आजल्प’ नामक चित्रजल्पके मैदके ये लक्षण हैं—

जैह्यथ तस्यार्तिदत्तं च निर्वेदाद् यत्र कीर्तितम् ।
भङ्ग्यान्त्यसुखदत्तं च स आजल्प उदीरितः ॥

प्रचण्ड मानवती होकर श्रीराधा यह सब कह रही हैं। यह मान दिव्योन्मादके विरहसमुद्रमें भासमान (तैर रहे) एक द्वीप-सदृश है। इठाव एक भावतरंगके आघातसे यह द्वीप जलमग्न हो गया। भ्रमरको अब न देख पाने-हेतु मान तिरोहित होकर कलहान्तरिता-व्यवस्थाका उदय हो गया।

चरणोंमें पतित वल्लभकी क्रोधयुक्तभावसे उपेक्षा करनेके कारण जो नायिका परितापयुक्त हो जाती है, उसे ‘कलहान्तरिता’ कहते हैं—

या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं खया ।

निरस्य पश्चात् तपति कलहान्तरिता तु सा ॥

परंतु यहाँ श्रीराधाने श्रीकृष्णकी उपेक्षा नहीं की है, अपितु श्रीकृष्ण-प्रेरित भ्रमरकी उपेक्षा की है। इस भावनासे भी श्रीमतीको गहरा विषाद हुआ—‘हाय ! हाय ॥ कितना अन्याय हुआ ! मान-प्रसादन-हेतु प्राणनाथने दूत मेजा और मुझ हतभागिनीने अत्यन्त कठोर वचनोंसे उसका तिरस्कार कर दिया। वह अपमानित एवं तिरस्कृत होकर लौट गया है। अब क्या कहूँ ?’ विरहिणी श्रीराधा अत्यन्त व्याकुल होकर रोदन करने लगीं और अपलक नेत्रोंसे भ्रमरके आगमन-पथपर दृष्टि लगाये रहीं। यदि भ्रमर लौट आया तो दुबारा इस प्रकार कठोरतासे तिरस्कार नहीं करूँगी। यह सोचते-सोचते सहसा भ्रमर दृष्टिगोचर हुआ। इस बार स्वरकी धारा बदलकर कहने लगीं—

‘प्रिय सखे ! पुनः आ गये क्या (पुनरागाः) ? क्या तुम मेरे प्राण-प्रियतमके समीप लौट गये थे ? उनके पास मेरी दुर्दशाकी सारी कहानी सुना दी ! उन्होंने तुम्हें पुनः मुझे सात्वना देने-हेतु इधर मेजा है ! ‘प्रेयसा प्रेषितः किम्’— ‘प्रियतमने मेजा है क्या ?’ प्रेमपूर्ण आर्वाकण्टसे ऐसा कहते ही श्रीराधा निदारुण मूर्च्छादशाको प्राप्त हो गयीं।

मूर्च्छिता श्रीराधाकी अवस्थाका संदर्शन कर उद्धवजी विचलित हो गये, उनका धैर्य विलुप्त हो गया। ‘विरह’ शब्द तो अनेक बार सुना था, किंतु आज उद्धवजीने उसकी साक्षात् प्रकट मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन किया। वे सुनने लगे उनकी प्रवृत्ति। विरहिणी श्रीराधा मूर्च्छा-दशापे ही मोहयुक्त प्रवृत्ति करने लगीं—‘मेरे कठोर

व्यवहारसे भी क्षुब्ध हुए बिना तुम लौट आये हो, मधुकर !
अहा ! तुम्हारे इस प्रेमपूर्ण व्यवहारका ऋण मैं किस
प्रकार चुकाऊँ ? प्रिय भ्रमर ! तुम हमारे सम्माननीय अतिथि
हो (माननीयोऽसि मेऽङ्ग) । तुम हमारा प्रिय कार्य-
सम्पादन करनेवाले हो । तुम हमसे अपने इच्छानुसार
जो चाहो सो वर माँग लो (वरय किमनुरुन्धे) ।
दूत ! हमने तुमसे अनजानमें जो एकपक्षीयताका
कटु वचन कहा है, वह हमसे महान् अन्याय हुआ है ।
वस्तुतः हमारी इन्द्रियाँ हमारे वशमें नहीं हैं । कृपया
हमारी इस त्रुटिको ग्रहण मत करना । अब अपनी
अभिलषित वस्तु हमें बता दो । हमारी सामर्थ्यमें हुई तो
हम उसे तुम्हें अवश्य प्रदान करेंगी ।

पुनः कर्णोंमें भ्रमर-गुञ्जन सुनकर कहने लगी—
‘क्या बोले ? तुम दूत हो, मुझे रथमें चढ़ाकर अपने
प्रभुके पास मथुरा ले जाना चाहते हो ? प्रिय दूत ! मैं
तुमसे अनुनय कर रही हूँ, ऐसी बात मत कहना ।
तुम तो अरसन्न भी नहीं हो, अविवेचक भी नहीं हो ।
प्राणनाथको अभी सपत्नियाँ घेरे बैठी हैं । मेरे वहाँ
जानेसे उन्हें भी दुःख होगा और मुझे भी दुःख होगा ।
विरह-वेदनासे मेरे सारे मर्मस्थल पहले ही जल-जलकर
टूटे जा रहे हैं, तदुपरि पुनः सपत्नी-विद्वेष-ज्वालामें मुझे
भस्मीभूत क्यों करना चाहते हो ? क्या बोले ?—वहाँ कोई
सपत्नी नहीं है ? सौम्य ! क्यों असत्य बोल रहे हो ? मुझे
यहींसे प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है—श्रीवधू
उनके वक्षःस्थलपर आरामसे विराजमान है (सततमुरसि
सौम्य श्रीवधूः साकमास्ते) ।

‘सेथा आम्नि ना आइव, जाया संग नाहि पाव,
लक्ष्मी हृदे आलस्य बसिया ।’

‘नहीं, नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, सपत्नीके साथ नहीं
रह सकूँगी । उनके हृदयमें लक्ष्मी विराजमान जो है ।’

‘वे जबतक व्रजमें थे, उनका हृदय प्रेमसे परिपूर्ण
था, लक्ष्मीको कहीं स्थान नहीं मिला । वह वक्षःस्थलके

एक पार्श्वमें एक क्षीण स्वर्णरेखा-रूपसे पड़ी रहती थी ।
अब उनके सारे हृदयको ऐश्वर्य चारों ओरसे घेरे बैठा
है । लक्ष्मी अब मात्र स्वर्णरेखा-रूपसे ही नहीं रहती
है । अब तो वह पूरे वक्षःस्थलपर अतिकार किये विराज-
मान कर रही है । भ्रमर ! तुम्हीं बताओ न, इस प्रकारकी
स्थितिमें मैं वहाँ उनके समीप कैसे जा सकती हूँ ?
अतएव तुम उन्हें ही मेरे समीप ले आओ । यही
श्रीराधाके हृदयकी गूढ लालसा है—

प्रियसख पुनरागः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीवधूः साकमास्ते ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । २०)

—इस श्लोकमें लक्ष्मीके प्रति ईर्ष्या है । दूतके प्रति
सम्मान है, किंतु दूतको वरदानकी प्रतिश्रुति देकर भी
उसकी माँगको अनुचित बताकर उसका अस्वीकार
है । पूर्वकी भाँति उद्धत भाव नहीं है, अपितु
अनुद्धत भावसे विनयसहित स्तुति है । युक्तिकी भी
अवतारणा है । इसका नाम ‘प्रतिजल्प’ है । इसके
लक्षण हैं—

दुस्त्यजद्वन्द्वभावेऽस्मिन् प्राप्तिर्नाहृत्यनुद्धतम् ।
दूतसम्माननेनेक्तं यत्र स प्रतिजल्पकः ॥

श्रीकृष्णके समीप उनकी अन्य प्रियतमाएँ विराजमान
हैं, अतः वहाँ जाना उचित नहीं है—इस युक्ति-प्रदर्शन-
पूर्वक विनयसहित दूतके प्रति सम्मानयुक्त जो प्रलापोक्ति
है, उसे ‘प्रतिजल्प’ कहते हैं ।

इस प्रकार बोलते-बोलते हठात् श्रीराधाका प्रणय-
कोप एवं तज्जनित वाग्यभाव दूर हो गया, किंतु वे
भ्रमरको तब भी देख रही हैं । श्रीराधाको लगा कि
श्रीकृष्ण-दूतके प्रति उनका व्यवहार अतीव रूक्ष और
अनुचित हुआ है । अनुतप्त हृदयसे वे खगत कहने
लगीं—‘मेरे द्वारा कितना अनुचित कार्य हो गया ।

प्राणप्रियतमने मुझे सान्त्वना देने-हेतु दूत भेजा और मैंने उससे कुछ जिज्ञासा-योग्य संवाद पूछा ही नहीं—इसके विपरीत उसकी भर्त्सना कर बैठी ।' इस भावनासे कुछ सरलता, दैन्य तथा उत्कण्ठा उत्पन्न हुई । अश्रुपूरित नयनोंसे गद्गदकण्ठ होकर वे दूतसे पूछने लगीं—

‘भ्रमर ! वर्तमानमें आर्यपुत्र क्या मथुरामें ही हैं ? (अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते) ।’ भ्रमरके गुञ्जन-स्वरमें श्रीराधाको सुनायी दिया—‘हाँ, मधुपुरीमें ही हैं ।’ श्रीराधा बोली—‘यदि मथुरामें ही हैं तो फिर माँ यशोमती एवं पिता नन्दजीका कभी स्मरण भी करते हैं ? (स्मरति स पितृगेहान्) ।’ ब्रजके आत्मीय-स्वजन और सखाओंकी बात उन्हें याद है क्या ? यदि कहो ‘हैं’, तो फिर ब्रजमें आते क्यों नहीं ? आकर एक बार देख जाना उचित है कि उनके अभावमें ब्रजके गृहोंकी कैसी दुरवस्था हो गयी है । मिट्टी, घास-फूस और मकड़ीके जालोंसे ब्रजके गृह भरे पड़े हैं । क्या दिनान्तमें एक बार भी श्रीकृष्णको इन सबकी याद आती है ? यहाँकी दुर्दशाकी कल्पना करके यदि एक बार भी यहाँ आवें तो देख पायेंगे—एक दिन जो ब्रज परमानन्दसे भरपूर था, आज वही ब्रज एक आवर्जनापूर्ण कूड़ाघर बन गया है । मधुकर ! हमारे प्रियतम कभी इन दीन-हीन हतभागिनी दासियोंकी बात भी स्मरण करते हैं क्या ? कोई याद दिला दे तो सम्भवतः कभी कदाचित् स्मरण कर लेते होंगे, किंतु हम ऐसा नहीं सुनना चाहतीं । किसी कथा-प्रसंगमें स्वतः उत्सारितभावसे कभी हमारी बात श्रीमुखसे उच्चारण करते हैं क्या ? (क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां शृणीते) ?

‘कोई गुँथी हुई माला देखकर क्या कभी कहते हैं—‘हाँ, यह माला बहुत सुन्दर है, किंतु ब्रजसुन्दरियों-द्वारा गुँथी हुई माला-जैसी मनोहारिणी नहीं है ।’ अपनी प्रियाओंद्वारा रचित शय्यापर शयन करने जाकर क्या कभी कहते हैं—‘हाँ, इस शय्या-रचनाकी परिपाटी

निराली अवश्य है, किंतु ब्रजललनाओंकी शय्या-रचनाका नैपुण्य और कहीं देखनेको नहीं मिलता ।’ अपने श्रीअङ्गोंकी शोभा दर्पणमें देखते हुए क्या कभी हठात् कह उठते हैं—‘कितने ही सुन्दर वस्त्रालङ्कार क्यों न पहनूँ, किंतु ब्रजाङ्गनाओंद्वारा अत्यन्त अनुरागसहित रचित वनमाला एवं गुंजाहारोंसे सजनेमें जो सुख प्राप्त होता था, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता ।’ मथुराकी किसी सेवादासीको पुकारते समय कभी भ्रमवश इन ब्रजवासियों-का नाम लेकर भी पुकार बैठते हैं क्या ? मधुकर ! हम तो उनकी अयोग्य सेविकाएँ थीं । अन्यद्वारा की जानेवाली सेवाको देखकर कभी इन दीन-दुखिया सेविकाओंकी अक्षमताकी बात भी उनके मनमें जाग उठती है क्या ?

‘हाय रे भ्रमर ! हम और क्या ही जिज्ञासा करेंगी ? हमारे सारे अन्तरको व्याप्त करके केवल एक ही जिज्ञास्य है । उनकी बाहुकी गन्ध उनके अन्तरसे भी अधिक मनोहारिणी थी । जिस प्रकार अगुरु और चन्दनवृक्षोंके समीपस्थ वृक्षोंमें भी अगुरु-चन्दनकी सुगन्ध प्रसारित हो जाती है, उसी प्रकार उनके करस्पर्शसे हमारे अङ्गोंमें भी अगुरु-गन्ध प्रसारित हो जाती थी और हमारे अङ्गोंसे सुगन्ध निकलती रहती थी । उस स्पर्शमणिके स्पर्शसे हमारी तुच्छ देह भी स्वर्णवर्ण हो गयी थी । आज उनके विरहमें इस देहमें न तो वह वर्ण ही रहा है और न वह गन्ध ही रही है ।

‘भ्रमर ! इस ब्रजके वे ब्रजजीवन अब वापस यहाँ कब आयेंगे और अपनी विशाल बाहु हमारे मस्तकपर कब रखेंगे ? (भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्यधास्यत् कदा नु) ।’ कब अपना अभय हस्त हमारे मस्तकपर रखकर यह आशीर्वाद देंगे जिससे इस प्रबल विरहाग्नि-तापसे कभी दग्धीभूत न होना पड़े । फिर कब इन भाग्यहीनोंका अपनी अगुरु-सुगन्धयुक्त सुवर्तुल बाहुद्वारा आलङ्घन करेंगे ? कब इमें अपनेमें इस

प्रकार निविडरूपासे आत्मसात् कर लेंगे कि फिर
अनन्त जीवनयात्रामें कभी उनसे विछुड़ना न पड़े”—

अपि यत् मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं सूक्ष्मध्यास्यत् कदा तु ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । २१)

दशविध चित्रजल्पका यह अन्तिम भेद है । इसका
नाम 'सुजल्प' है । इसके लक्षण ये हैं—

यत्रार्जवात् सगाभीर्यं सदैव्यं सहचापलम् ।
सोत्कण्ठं च हरिः पृष्टः स सुजल्पो निगद्यते ॥

दिव्योन्माद-अवस्थामें विचित्रतामय प्रलाप करते-
करते जब सरलता, गाम्भीर्य, दैन्य और चापल्य प्रकट
होते हैं और दूतसे उत्कण्ठासहित प्रियके संवादकी
जिज्ञासा की जाती है, तब उसे 'सुजल्प' कहते हैं ।

ऋजुता गाम्भीर्यं दैन्यं सोत्कण्ठा चपल ।
सुजल्प जिज्ञासा करे संवाद सकल ॥

—इस श्लोकमें 'आर्यपुत्र मथुरामें ही हैं क्या?'—
इस वाक्यसे सरलता प्रकट होती है । माता-पिता,
बन्धु, आत्मीय खजनोंकी जिज्ञासा करके भी अपनी
खयंकी जिज्ञासा न करनेमें गाम्भीर्य प्रकाशित हो
रहा है । इन दासियोंकी बात भी कभी स्मरण करते
हैं क्या?'—इस प्रश्नमें दैन्य स्पष्ट झलकता है । 'फिर
कब अपना श्रीहस्त मस्तकपर रखेंगे?'—इस प्रश्नमें
चापल्य और उत्कण्ठाकी अभिव्यक्ति स्पष्ट है ।

शुधाइ विनये अति, मधुरार प्राणपति,
पितृगृह खरे कि कखन ?
गोपगणे पड़े सने, पृष्ट दिव्य वृन्दावने,
पड़े सने यत् केलिगण ?
भोरा चिर किंकरी, कभु फि स्मरेन हरि,
कथा किहु कहे कि कखन ?

तौर दीर्घ भुजदण्ड, याहाते अगुरु गन्ध,
शिरे कबे करिवे अर्पण ?
कबे पुनः पाव दरशन ?

'हम सब अत्यन्त विनयके साथ पूछ रही हैं—
मथुरा-निवासी हमारे प्राणपति कभी पितृ-गृहका स्मरण
भी करते हैं ? उन्हें इस दिव्य वृन्दावनके गोप और
सखाओंकी कभी याद भी आती है ? हम सब उनकी
चिरकालकी दासियाँ हैं, क्या नाथ कभी हमारी याद
कर हमारी बात पूछते भी हैं ? क्या प्रभु अपना अगुरु-
सुगन्धयुक्त भुजदण्ड हमारे मस्तकपर फिर रखेंगे ?
हमें फिर उनका दर्शन कब प्राप्त होगा ?'

वे हमारे अङ्गका पुनः कब स्पर्श करेंगे?'—
कहते-कहते श्रीराधाके मानस-पटलपर श्रीकृष्णके
आजानुलम्बित सुवर्तुल बाहुयुगलोंकी स्मृति उदित हो
गयी । उनके अङ्गोंमें अतीव सुदीप्तरूपसे अष्ट सात्त्विक
भावोंका विकास हो गया । उन वर-अङ्गोंमें अविच्छेद
महाभाव परिस्फुट हो उठा । नयनोंसे विगलित अजस्र
अश्रुधारासे भूमि ल्यावित होने लगी । सारी देह कदलीपत्र-
सदृश कम्पायमान होने लगी । अङ्गोंसे स्वेदधारा बह
चली । अजस्र लालस्रव होने लगा । स्वासावरोध हो गया ।

'दशेन्द्रिय छेड़े गेल, नव द्वार बन्ध ऐल,
शबग्राय पड़े कलेवर ।'

उनकी ऐसी भीषण दशा हो गयी कि यह बोध
भी नहीं रहा, मानो देहमें प्राण हैं भी या नहीं ।
आजतक (अभिवानमें) 'विरहवेदना' एक शब्दमात्र था ।
आज उद्धवजीके नेत्रोंके सम्मुख 'विरहवेदना'की एक
साकार मूर्ति प्रकट हो गयी ।—(क्रमशः)

(अनु०—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

भागवतीय प्रवचन—१९

धर्मकी महत्ता

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

भगवान्‌के स्वयामगमन और यदुवंशके विनाशका समाचार सुनकर युधिष्ठिरने स्वर्गारोहणका निश्चय किया। परीक्षितको राजसिंहासन देकर और द्रौपदीको अपने साथ लेकर सभी पाण्डव स्वर्गारोहणार्थ महाप्रस्थानके लिये चल पड़े। वे तीन ओरसे भारतवर्षकी परिक्रमा कर हिमालय पहुँचे। केदारनाथमें उन्होंने भगवान्‌ शिवकी पूजा की। उसके आगे निर्वाण-पंथ है। पाण्डवोंने वही रास्ता लिया। चलते-चलते सबसे पहले द्रौपदीका पतन हुआ; क्योंकि वैसे तो वह भी पतिव्रता थी, किंतु अर्जुनके प्रति उसे अधिक प्रेम था, इसलिये वह उनकी ओर पक्षपातका भाव रखती थी।

दूसरा पतन हुआ सहदेवका; क्योंकि उसे अपने ज्ञानका अभिमान था। तीसरा पतन हुआ नकुलका; क्योंकि उसे अपने रूपका अभिमान था। फिर पतन हुआ अर्जुनका; उसे अपने बलका अभिमान था। फिर पतन हुआ भीमका; उसने धर्मराजसे पूछा कि 'मेरा पतन क्यों हुआ? मैंने तो कभी कोई पाप किया ही नहीं था।' युधिष्ठिरने कहा—'तु, खाता बहुत था, इसलिये तेरा पतन हुआ।'।

खानेके समय आँखें खुली रखो, किंतु संतोंको और देवोंको भोजन कराते समय आँखें बंद रखो।

धर्मराज अकेले आगे बढ़ने लगे। धर्मराजकी परीक्षा करनेके लिये यमराज कुत्तेका रूप धारणकर उनके पास आये। उन्होंने दूसरा भी रूप धारण किया और युधिष्ठिरसे कहा कि 'मैं तुम्हें स्वर्ग ले जाऊँगा, किंतु तुम्हारे पीछे-पीछे जो कुत्ता चला आ रहा है, उसे स्वर्गमें प्रवेश न मिलेगा।' युधिष्ठिरने कहा कि 'जो मेरे साथ-साथ चला आया है, उसे मैं अकेल कैसे छोड़

दूँ। उसे छोड़कर मैं स्वर्गमें नहीं जा सकता। सात कदम साथ चलनेवाला मित्र बन जाता है।' धर्मराज सदेह स्वर्ग गये।

तुकाराम भी सभीको राम-राम कहते हुए स्वर्ग गये थे—

आम्हीं जातो आयुच्या गांवा,

आमचा राम राम ध्यावा।

मीराबाई भी सदेह स्वर्गमें गयी थीं। वे द्वारकाधीशमें सदेह समा गयी थीं, लीन हो गयी थीं। मेवाड़में उन्हें बहुत कष्ट मिळा था, इसलिये उन्होंने मेवाड़ छोड़ दिया। उनके जानेके बाद मेवाड़ बहुत दुःखी हुआ। वहाँ यवनोंका आक्रमण हुआ। राणाजीने सोचा कि मीरा फिर मेवाड़ आये तो देश सुखी हो। राणाजीने ब्राह्मणोंको और भक्तोंको मीराको बुलानेके लिये भेजा। मीराने उनसे कहा कि 'कल यदि मेरे द्वारिकानाथकी अनुज्ञा मिलेगी तो मैं आपके साथ चढ़ूँगी।'।

अगले दिन मीराने दिव्य शृङ्गार किया। वे आतुर थीं कि आज उन्हें अपने गिरिवर गोपाळसे, अपने प्राणप्रियतम श्रीकृष्णसे मिलना है। मैं इस संसारमें अब रहना नहीं चाहती। कृपा करो मेरे नाथ! कीर्तनके साथ-साथ वे नर्तन भी करने लगीं। आज उनका अन्तिम कीर्तन था। द्वारिकानाथने उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया। मीरा सदेह द्वारिकाधीशमें विलीन हो गयीं। श्रीकृष्ण-भक्तिसे उनका शरीर इतना दिव्य हो गया था कि वे सशरीर श्रीकृष्णमें विलीन हो गयीं।

आत्मा और परमात्माका मिलन कोई आश्चर्यकी बात तो नहीं है, किंतु श्रीकृष्ण-प्रेमसे जड़ शरीर भी चेतन बनता है और चेतनमें विलीन हो जाता है।

दिव्य पुरुष सशरीर परमात्मामें जा मिलते हैं । प्रयाण और मरणमें भेद है । अन्तिम श्वासतक नित्यकर्म करता रहे तो उसे प्रयाण कहा जायगा और मलिन अवस्थामें हाय-हाय करता हुआ देह छोड़े तो उसे मरण कहा जायगा ।

पाण्डव प्रभुके धाममें गये । उनकी मृत्यु उजागर हो गयी; क्योंकि उनका जीवन श्रेष्ठ और शुद्ध था । उन्होंने अपने जीवनकालमें कभी धर्मको छोड़ा नहीं था ।

धनकी अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है । धन इस लोकमें कुछ सुख देता है और कभी-कभी दुःख भी देता है; किंतु धर्म तो जीवन और परलोक दोनोंको उजागर करता है । धर्म मृत्युके बाद भी साथ-साथ जाता है ।

अब परीक्षित राज्य करने लगे । उन्होंने धर्मपूर्वक प्रजापालन किया । तीन अश्वमेध-यज्ञ भी किये । अश्वमेध-यज्ञके समय घोड़ेको मुक्ततासे विवरण कराया जाता है । वासना ही घोड़ा है । वासना कभी कहीं बँधती ही नहीं है । आत्मस्वरूपमें विलीन होनेपर ही वह अंकुशित होती है । वासना किसी विषयमें फँस न जाय, उसका ध्यान रखना आवश्यक है ।

इन्द्रिय, शरीर और मनोगत वासनाका नाश ही तीन यज्ञ है । परीक्षितने ये ही तीन यज्ञ किये । चौथा यज्ञ शेष था । बुद्धिगत वासनाका नाश तो शुकदेवजी-जैसे ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी कृपासे ही होता है । अतः चौथा यज्ञ अभीतक हुआ नहीं था ।

शुद्ध आचार हों तो विचार शुद्ध होते हैं । जलशुद्धि और अन्नशुद्धिकी मर्यादाओंके पालनसे सिद्धि मिलती है । आचार शुद्ध रखो; क्योंकि स्वेच्छाचारीका पतन होता है ।

परीक्षितके आचार अति शुद्ध थे अर्थात् धर्मशास्त्र-कथित मर्यादाके अनुसार थे, अतः उनमें कलिपुरुषका प्रवेश न हो सका । कलिनने सोचा कि परीक्षित कुछ

पाप करें तो मैं उनमें प्रवेश पा जाऊँगा । राजाके मनमें पहले प्रवेश करूँ तो प्रजामें भी प्रविष्ट हो सकूँगा ।

समाजको सुधारना अब अशक्य-सा हो गया है; किंतु व्यक्तिगत जीवन तो सुधर सकता है । आचार और विचारसे जो शुद्ध होता है, उसके घरमें कलि नहीं आ सकता । जिसके घरमें श्रीकृष्णकीर्तन, श्रीकृष्णसेवा नित्य होती हो, उसके घरमें कलि प्रवेश नहीं कर सकता ।

शास्त्रकी रचना मनुष्यके कल्याणके लिये ही की गयी है । जो आचार-धर्मको छोड़ देता है, उसके विचार भी अशुद्ध हो जाते हैं । धर्म माता-पिता है । पत्नीकी पसंदगी हो सकती है, माता-पिताकी नहीं । धर्मका परिवर्तन नहीं किया जा सकता । वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे आचार शुद्ध हो सकते हैं ।

गायकी सेवा करो । गाय खाती तो है घास-भूसा, किंतु देती है दूध । यदि भगवान्ने सम्पत्ति दी हो तो गोपालन करो । आजकल लोग धन-सम्पत्ति मिलनेपर कुत्ते पालते हैं । कुत्तेका अनादर करनेकी बात नहीं है, किंतु मर्यादाको छोड़कर अधिक प्रेम न करो । आँगनमें आये हुए कुत्तेको रोटी खिलाना धर्म है, किंतु कुछ लोग उसे अपनी मोटरमें बिठाकर घूमते-फिरते हैं । ऐसे लोगोंके लिये क्या कह सकते हैं, किंतु अगले जन्ममें स्वयं ही कुत्ता होनेकी तैयारी है ।

जीवमात्रमें परमात्मा हैं, किंतु प्रत्येकका शरीर भिन्न है और कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं । इसलिये प्रत्येकके साथ पीना और खाना इष्ट नहीं है ।

एकादशीके दिन अन्न नहीं खाना चाहिये । एकादशीके दिन उपवास करना धर्म है, किंतु हम अपने ही शास्त्रोंकी बात नहीं मानते और जब डाक्टर कहता है कि विषमज्वर (टाइफाइड) है और इक्कीस दिन भोजन मत करना तो उसकी बात मान लेते हैं और इक्कीस दिनका उपवास कर लेते हैं ।

जिस तरह पापीके मनमें कलि प्रवेश करता है, उसी तरह शास्त्रकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालेके घरमें भी वह घुस जाता है ।

यदि आचार-विचार शुद्ध हों तो कलि तुममें प्रवेश नहीं कर सकेगा । व्यवहार भी शुद्ध ही होना चाहिये । सत्यपूर्ण, शुद्ध व्यवहार न करे और केवल प्रत्येक पूर्णिमाके दिन सत्यनारायणकी पूजा करे तो उससे क्या लाभ होगा । असत्यभाषीकी पूजा सत्यनारायणको अस्वीकार्य है ।

एक दिन एक आश्चर्यजनक घटना हुई । परीक्षित दिग्विजय करने निकले । घूमते-फिरते वे सरस्वती नदीके किनारे आये । वहाँ एक काला पुरुष गाभ-बैलोंको लाठीसे पीट रहा था । बैठ धर्मका स्वरूप है और गाय पृथ्वीका । गायकी आँखोंसे आँसू वह रहे हैं । धर्मरूप बैल उससे दुःखका कारण पूछता है तो पृथ्वीरूपी गाय कहती है—‘श्रीकृष्णने इस पृथ्वी-लोकसे अपनी लीळा समेट ली है, अतः यह संसार पापमय कलियुगकी कुदृष्टिका शिकार हुआ है ।’

धर्मकी मर्यादाका पालन ठीक तरहसे करोगे तो ज्ञान अपने-आप ही प्रकट होगा । धर्मारूढ़ रहोगे तो ज्ञानगङ्गाका अवतरण होगा । शिवजी नन्दीपर अर्थात् धर्मपर आरूढ़ हैं अतः उनके सिरपर ज्ञानगङ्गा है ।

धर्मके चार अङ्ग मुख्य हैं—(१) सत्य, (२) तप, (३) पवित्रता और (४) दया । इन चारोंका योगफल ही धर्म है । इन चारों अङ्गोंपर जब धर्म आधारित था तब सत्ययुग था, तीन अङ्गोंपर आधारित था तब त्रेतायुग आया, दो अङ्गोंपर ही आधारित रहा तब द्वापरयुग आया और एक ही अङ्गपर आधारित रह गया तो कलियुग आया ।

सत्य—सत्य ही परमात्मा है । सत्य और परमात्मा भिन्न नहीं हैं । जहाँ सत्य है वहीं परमात्मा है । जो

असत्य बोलता है, उसके पुण्योंका क्षय होता है । सत्यके सहारे मनुष्य नारायणके पास जा सकता है । जो हितभाषी और मितभाषी है, वह सत्यवादी हो सकता है ।

तप—तप करो । हर प्रकारके सुखोंका उपभोग न करो । थोड़ी-सी तपश्चर्या प्रतिदिन करो । जो हर प्रकारके लौकिक सुखोंका उपभोग करता है, उसपर परमात्मा कृपादृष्टि नहीं करते । दुःख सहकर परमात्माकी आराधना करना ही तप है । जो दुःख सहता हुआ प्रभु-भजन करे वही श्रेष्ठ है । जीभ जो माँगे वह सब कुछ उसे मत देते रहो । कुछ सहन करना भी सीखो । इन्द्रियोंका स्वामी आत्मा है । इन्द्रियाँ जो कुछ माँगे वह उन्हें देनेसे तो आत्मा उनका गुलाम बन जायगा । विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाप भस्मीभूत होते हैं । भगवान्‌के लिये कष्ट सहना ही तप है । वाणी और वर्तनीमें संयम और तप होने ही चाहिये ।

पवित्रता—कलियुगमें पवित्रता रही ही कहाँ है । बाहरसे सब पवित्र लगते हैं और अंदरसे सब मलिन हो गये हैं । वस्त्रोंका दाग तो मिट सकता है, किंतु कलेजेपर पड़ा दाग कभी नहीं मिटता । जीवात्मा वैसे तो सब कुछ छोड़कर जाता है, किंतु मनको तो वह अपने साथ ही ले जाता है । पूर्वजन्मका शरीर नहीं रहता, किंतु मन तो रहता ही है ।

लोग वस्त्र, अन्न, व्यवहार आदिकी देख-भाल बहुत करते हैं, किंतु मृत्युके बाद भी जो साथ जानेवाला है, उस मनकी कोई देख-भाल नहीं करता । मृत्युके बाद जो साथ जानेवाला है उसकी चिन्ता करो, उसीकी देख-भाल करो । जिस तरह कपड़ोंको स्वच्छ रखते हो, उसी तरह मनको भी स्वच्छ रखो ।

जिस तरह संसारका व्यवहार निभाती हुई माता अपने बच्चेकी देख-भाल करती है, उसी तरह व्यावहारिक कर्म

करते हुए भी ईश्वरके साथ सम्बन्ध बनाये रखो। सदा सोचते-सँभालते रहो कि अपना मन कभी न बिगड़े।

दया—धर्मका चौथा अङ्ग है दया। श्रुति कहती है कि जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है वह अन्न नहीं, पाप खाता है। धर्मके इन चार चरणोंमें सत्य सर्वश्रेष्ठ है, सर्वोपरि है।

राजा सत्यदेवकी कथा लोकमें प्रसिद्ध है। लक्ष्मी चञ्चल है। वह किसी-न-किसी पीढ़ीके हाथोंसे चली ही जायगी। एक दिन प्रातःकाल सत्यदेव जब जगा, तो उसने अपने घरसे एक सुन्दरीको बाहर जाते हुए देखा। राजाको आश्चर्य हुआ। उसने स्त्रीसे पूछा कि तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया कि मेरा नाम लक्ष्मी है, मैं अब तेरे घरसे जा रही हूँ। राजाने उसे अनुज्ञा दे दी।

कुछ देरके बाद एक सुन्दर पुरुष घरसे बाहर निकला। राजाने जब उससे पूछा कि तुम कौन हो, तो उसने कहा कि मैं दान हूँ। जब लक्ष्मीजी यहाँसे चली गयीं तो तुम दान कैसे कर सकोगे? अतः मैं भी लक्ष्मीके साथ ही जा रहा हूँ। राजाने उसे भी जाने दिया। फिर एक तीसरा पुरुष बाहर जाने लगा। राजाके पूछनेपर उसने बताया कि मैं सदाचार हूँ। जब लक्ष्मी और दान ही न रहे तो मैं रहकर क्या करूँगा। राजाने उसे भी जानेकी अनुमति दे दी। फिर एक और सुन्दर पुरुषको बाहर जाते हुए देखा। पूछनेपर उसने बताया कि मैं यश हूँ। वह बोला—जहाँ लक्ष्मी, दान और सदाचार न हों वहाँ मैं नहीं रह सकता। राजाने उसे भी जाने दिया। कुछ देर बाद एक और सुन्दर युवक घरसे निकलकर जाने लगा। पूछनेपर उसने अपना परिचय दिया कि मैं सत्य हूँ। जब आपके यहाँ लक्ष्मी, दान, सदाचार और यश नहीं रहे तो मैं अकेला यहाँ कैसे रहूँ। मैं भी उनके साथ जाऊँगा।

तब सत्यदेवसे राजाने कहा कि मैंने तो आपको कभी छोड़ा ही नहीं, फिर आप मुझे क्यों छोड़कर जा

रहे हैं। आपको अपने पास रखनेके लिये ही मैंने लक्ष्मी—यश आदिका त्याग किया है। मैं आपको नहीं जाने दूँगा। आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मेरा सर्वस्व ही लुट जायगा। राजाकी इस प्रार्थनाके कारण सत्य नहीं गया और जब सत्य नहीं गया तो लक्ष्मी, दान, सदाचार और यश भी राजाके घर वापस लौट आये।

जहाँ सत्य होता है, वहाँ लक्ष्मी, दान, सदाचार और यशको आना ही पड़ता है। बिना सत्यके ये सब व्यर्थ हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि सत्य ही सर्वस्व है। शेष चार सम्पत्तियाँ चली जायँ तो कोई चिन्ता नहीं, किंतु सत्य नहीं जाना चाहिये। सत्य रहेगा तो सब कुछ रहेगा।

सूतजी वर्णन करते हैं—इस अध्यायमें धर्मकी व्याख्या की गयी है। सत्य, तप, पवित्रता और दान—ये चार धर्मके प्रधान अङ्ग हैं। इन चारोंका समन्वय ही धर्म है, इन चार तत्त्वोंसे जो परिपूर्ण है, वही धार्मिक है।

सत्ययुगमें ये चारों तत्त्व थे। फिर त्रेतामें सत्य चला गया। द्वापरमें सत्य और तप नहीं रहे। कलियुगमें सत्य और तपके साथ-साथ पवित्रता भी चली गयी। कलियुगमें केवल दान ही रह गया। कलियुगमें दान ही प्रधान है। कलियुगमें केवल दान और दयाके सहारे ही धर्म रह गया है।

राजा परीक्षितने देखा कि एक बैल केवल एक ही पाँवपर खड़ा है और एक व्यक्ति उसे लाठीसे मार रहा है। राजाने बैलसे पूछा कि तेरे तीन चरण किसने काटे दिये? धर्मरूपी बैलने कहा कि भ्राजन्! मैं अभीतक यह निर्णय नहीं कर सका हूँ कि मेरे पाँव किसने काटे और कौन मुझे दुःखी कर रहा है। कोई कहता है कि काल दुःख दे रहा है तो कोई कहता है कि कर्म ही दुःख देता है। कोई दुःखका कारण स्वभावको बतलाता है।

अपना स्वभाव शान्त रखो। काल, कर्म और स्वभाव ही जीवको दुःख देते हैं।

प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन

(पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

मनुष्य-जीवनकी प्रगति दो बातोंपर निर्भर करती है— एक सदा नये काम करते रहनेपर और दूसरे सदा नये आध्यात्मिक विचारोंको मनमें लानेपर। काम करनेसे मनुष्यका लौकिक अनुभव बढ़ता है, उसके मानसिक भावोंका शोधन होता है और उसे अपने-आपको जाननेका अवसर मिलता है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने भीतर रहनेवाली अमित शक्तिका ज्ञान प्राप्त करता है, इससे उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। उसके मनमें नयी मूझ उत्पन्न होती है, इसके कारण वह अपनी भूलोंको सुधार सकता है और अपने कामको नये ढंगसे कर सकता है। इंगलिस्तानके प्रसिद्ध साहित्यकार वेकन महाशयने क्रिया और चिन्तन—दोनोंको प्रगतिशील जीवनके लिये नितान्त आवश्यक बताया है। अरस्तूके अनुसार सच्चा सद्गुण वह है जिसका आधार एक ओर क्रिया हो और दूसरी ओर ज्ञान। सच्चा सद्गुणी मनुष्य बाहरी सफलतासे अपने जीवनकी मौलिकताको नहीं मापता, वह किसी कार्यकी सफलता इस विचारसे देखता है कि उसे कहाँतक मौलिक ज्ञान प्राप्त हुआ। हमारे पुराने ग्रन्थ योगवासिष्ठमें वसिष्ठजीने कर्म और ज्ञानको जीवरूपी पक्षीके पंख माने हैं। मनुष्य न तो केवल कर्मसे और न केवल ज्ञानसे ही अपने जीवनको प्रगतिशील अथवा सफल बना सकता है। अच्छा ज्ञान वह है जो कर्मका सच्चा पथप्रदर्शक बने, जो मनुष्यकी विशुद्ध कार्यक्षमताको बढ़ावे। इसी प्रकार कोई भी भला कर्म मनुष्यमें नये ज्ञानकी वृद्धि करता है। सभी कर्मोंका अन्त नये आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि करना है।

जब मनुष्यके जीवनमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका साम्य न होकर किसी एककी अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तब मानसिक विषमताकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही स्थिति मानसिक रोगकी स्थिति है। जो मनुष्य सदा काममें ही लगे रहते हैं, वे आध्यात्मिक

चिन्तनकी क्षमताको खो देते हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवनकी सफलताको बाहरी परिणामोंके द्वारा मापने लगते हैं। जैसे-जैसे उन्हें बाह्य संसारमें सफलता मिलती जाती है, वैसे-वैसे वे आगे बढ़ते जाते हैं। बाहरी सफलताको अपने जीवनकी प्रगतिका माप-दण्ड बना लेनेपर मनुष्यमें अहङ्कारकी वृद्धि हो जाती है। फिर वह अपनी सफलताके आध्यात्मिक कारणको भूल जाता है। ऐसी अवस्थामें उसकी सूक्ष्म दृष्टिका हास हो जाता है। इसके कारण उसके द्वारा नाना प्रकारकी भूलें होने लगती हैं। इन भूलोंके कारणको वह अपने-आपमें न खोजकर अपनेसे बाहर खोजने लगता है। वह अपनी असफलताका दोष दूसरोंके सिर मढ़ने लगता है और जब उसमें दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि आ जाती है, तब वह अपने मित्रोंकी संख्या घटा लेता है एवं शत्रुओंकी संख्या बढ़ा लेता है। जब मनुष्यकी दृष्टि सर्वथा लौकिक हो जाती है, तब प्रत्येक नये कामको हाथमें लेते ही उसके मनमें अनेक प्रकारके संदेह होने लगते हैं। इन संदेहोंके कारण वह किसी भी कामको पूरी लगनके साथ नहीं कर सकता। फिर वह अपने चारों ओर निराशावादका वातावरण देखता है। ऐसा व्यक्ति उत्साहहीन होकर क्रियाहीन हो जाता है। यदि उसका पूर्व अभ्यास भला हुआ तो वह क्रिया होनेपर अपने-आपमें ही अपनी असफलताका कारण खोजनेकी चेष्टा करता है। वह अपने अभिमानको त्यागकर अपने-आपको किसी महान् तत्त्वके प्रति समर्पित कर देता है। ऐसा करनेपर उसमें नया उत्साह आ जाता है। जिस मनुष्यका पूर्व अभ्यास आध्यात्मिकताके प्रतिकूल होता है वह लौकिक विफलताकी उपस्थिति होनेपर मृत्युका आवाहन करने लगता है। फिर जैसा उसका आन्तरिक मन चाहता है, उसी प्रकार बाहरी घटना भी घटित होती है अर्थात् वह अपने-आपका विनाश कर डालता है।

जिस प्रकार केवल कर्म मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता, इसी प्रकार केवल ज्ञान भी मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता। कर्मके बिना ज्ञान अनुभवहीन होता है, वह पोथी-पण्डितका ज्ञान हो जाता है। कर्मके द्वारा मानसिक भाव परिष्कृत होते हैं। इसके न होनेपर मनुष्यका चिन्तन निराशावादी, नकारात्मक और अन्धकारमय हो जाता है। उसकी बुद्धि उसे किसी एक निश्चयके ऊपर नहीं ले जाती। उसे सभी दृष्टिबिन्दु दोषपूर्ण दिखायी देने लगते हैं। वह सभी वादोंमें झूठ-ही-झूठको देखता है। किसी भी सिद्धान्तसे उसे संतोष नहीं होता। ऐसी अवस्थामें उसे बाध्य होकर आध्यात्मिक चिन्तनसे उदासीन होना पड़ता है। जिस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तनहीन मनुष्य अन्तमें अपने आत्मविश्वासको खो देता है, इसी प्रकार कर्मकी अवहेलना करके जो व्यक्ति सर्वदा आध्यात्मिक चिन्तनमें लगा रहता है, उसे भी ठोस ज्ञान लाभ नहीं होता। सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान वह है जो कि अनुभवकी भित्तिपर खड़ा हो। यह अनुभव संसारमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें पड़नेसे, अनेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आनेसे और अनेक तरहके आचरण—व्यवहारमेंसे चलकर पार होनेसे आता है। जो मनुष्य जान-बूझकर अपने मनको कर्ममें नहीं लगाता, उसे बाध्य होकर अपने-आपको कर्ममें लगाना पड़ता है।

संसारके साधारण लोग भोगासक्त और कर्मासक्त होते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर वृत्ति बहुत थोड़े लोगोंकी होती है। अतएव जितनी आवश्यकता ज्ञानासक्त लोगोंको कर्मकी आवश्यकता बतानेकी है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता कर्मासक्त लोगोंको ज्ञानमें अनुराग रखनेकी आवश्यकता बतानेकी है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने-आपमें निहित मूल शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मनुष्यकी कर्ममें सफलता उसके अपने-आपके विषयमें अर्थात् अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें समुचित ज्ञान प्राप्त करनेपर निर्भर करती है।

जो व्यक्ति अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें जितना ही अधिक सोचता है, वह उतना ही अधिक उन शक्तियोंके विषयमें ज्ञान प्राप्त करता है। विचारकी शक्ति कितनी अधिक है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। जब मनुष्य अपने विचारकी शक्तिको केवल अपनी बाहरी सफलतासे मापता है, तब वह एक भारी भूल करता है। हम जो कुछ कार्य बाह्य जगत्में कर सकते हैं, वह हमारी वास्तविक कार्य करनेकी योग्यताका क्षुद्र भाग है। मनुष्यमें कितनी कार्य करनेकी शक्ति है, इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं रहता। वह थोड़ी-सी सफलताको ही बहुत-सी मान लेता है और फिर वह उसे भी खो देता है।

मनुष्यकी किसी बातमें कार्यक्षमता उसके आत्म-विश्वासपर निर्भर करती है। वह आत्मविश्वास सच्चे आध्यात्मिक चिन्तनका परिणाम होता है। जो मनुष्य वर्तमान कालके कर्तव्यपर ही अपने ध्यानको केन्द्रित करता है और वही हुई शक्तिको आध्यात्मिक चिन्तनमें लगाता है, उसका आत्मविश्वास कभी नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति प्रत्येक कामके सम्बन्धमें आगे-पीछेकी बातोंको बहुत कुछ सोचता रहता है, जो भविष्यके विषयमें अत्यधिक चिन्तित रहता है, वह अपनी बहुत-सी शक्ति व्यर्थकी चिन्तामें खो देता है। ऐसे व्यक्तिका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। फिर उसकी कार्यक्षमता भी जाती रहती है और उससे अनेक प्रकारकी भूलें होती रहती हैं। वे भूलें बिगड़े हुए मानसिक साम्यकी प्रतीक हैं। ये मनुष्यको आध्यात्मिक चिन्तनकी आवश्यकता दर्शाती हैं। जब मनुष्य अपनी अत्यधिक सफलतासे फूलकर लम्बी-लम्बी योजनाएँ बनाने लगता है तभी वह अपने मानसिक साम्यको खो देता है। उसकी योजनाएँ अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ उत्पन्न करती हैं, उसके मनमें अनेक प्रकारके संदेह लाती हैं और इस प्रकार उसकी मानसिक शक्तिको व्यर्थ ही आगे-पीछेके सोचनेमें खर्च

कर देती हैं। इस प्रकार मनुष्यकी सफलता भी उसकी विफलताका कारण बन जाती है।

आध्यात्मिक चिन्तन चिन्ताओंके निवारणका सर्वोत्तम उपाय है। जब मनुष्यका मन नित्य-तत्त्वकी पहचानमें लग जाता है, तब वह अपने जीवनकी आने-जानेवाली घटनाओंको उतना महत्त्व नहीं देता, जितना कि वह आध्यात्मिक चिन्तनको देता है। इस कारण ये घटनाएँ उसके मनको उद्विग्न नहीं करतीं। जब मनुष्य शान्त रहता है, तब वह मनकी अशान्त अवस्थाकी अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकता है। मनुष्य भावी अप्रिय घटनाओंके चिन्तन करनेसे जितना अपनी मानसिक शक्तिको खोता है, उतना वह अपनी मानसिक शक्तिको काममें खर्च करनेसे नहीं खोता। मनुष्यकी अत्यधिक मानसिक शक्ति अपने मनमें भयके विचारोंको लानेसे नष्ट होती है जिनसे वह डरता है। इन भयोंकी उत्पत्तिका कारण वर्तमान कर्तव्यको छोड़कर भविष्यके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य वर्तमानमें रहना सीखता है और इस प्रकार वह अकारण भयोंसे अपने-आपको मुक्त कर लेता है।

आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्यको नित्य-तत्त्वकी ओर ले जाता है। मनुष्यकी शक्तिके हासका प्रचान कारण उसका व्यक्तिगत स्वार्थके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना होता है। जब मनुष्य अपने कार्योंका लक्ष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी पूर्ति न बनाकर किसी महान् आदर्शकी प्राप्ति बना लेता है, तब उसका मन डाय-डोल अवस्थासे मुक्त हो जाता है। वह श्रमिक सफलता और विफलतासे न तो उल्लसित होता है और न उद्विग्न। जिस मनुष्यके कार्योंका लक्ष्य सभीका कल्याण करना होता है, उसकी कार्यक्षमता अपार होती है, परंतु अपने कार्योंका लक्ष्य मनुष्य सभीका कल्याण तबतक नहीं बना सकता जबतक कि वह अपने

आन्तरिक स्वत्वकी सर्वव्यापी तत्त्वसे एकता नहीं देखता। जब मनुष्य यह देखने लगता है कि सभीके कल्याणके विषयमें सोचनेमें ही उसका कल्याण है और सबके हित-चिन्तनसे उसे वास्तविक सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है, तभी वह अपने वैयक्तिक स्वार्थको छोड़कर अपने मनको दूसरोंके कल्याणके कार्यमें लगा सकता है। इसके लिये प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन करना नितान्त आवश्यक है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरोंका लाभ करके न केवल उसे लौकिक लाभ होता है, अपितु उसे आन्तरिक पूर्णता भी प्राप्त होती है, तबतक वह पूरे मनसे कभी भी दूसरोंके कल्याणके कार्यमें नहीं लग सकता।

जो लोग आध्यात्मिक चिन्तनसे विमुख होकर केवल लोकोपकारी कार्यमें लगे रहते हैं, वे अपनी ही सफलतापर अथवा अपने सद्गुणोंपर मुग्ध हो जाते हैं। वे अपने-आपको लोक-सेवकके रूपमें देखने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे आशा करते हैं कि सब लोग उनके कार्योंकी प्रशंसा करें और उनका कहां मानें। अपनी ही बातको सच्ची माननेकी प्रवृत्ति ऐसे लोगोंमें उत्पन्न हो जाती है। फिर उनका बड़ा हुआ अभिमान उन्हें अनेक लोगोंका शत्रु बना देता है। इससे उनकी लोक-सेवा उन्हें वास्तविक लोकसेवक न बनाकर लोक-विनाशकका रूप धारण कर लेती है। जिस बातको वे भला समझते हैं उसे वे सब प्रकारके विरोध होते हुए भी करते ही चले जाते हैं। उनकी यह हठधर्मी उन्हें विनाशकी ओर ले जाती है। आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यमें विनीत भाव नहीं आता और न उसमें अपने-आपको सुधारनेकी क्षमता रह जाती है। वह भूल-पर-भूल करता चला जाता है और इस प्रकार अपने जीवनको विफल बना लेता है।

कहानी

कल्पवृक्षके नीचे

‘श्रीमन्मन्मथमोहनं नटवरं श्रीबालकृष्णं भजे’,
‘श्रीकृष्णाय नमः’, ‘श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः’,
‘श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः’, ‘श्रीमद्गोस्वामिने
परमदयालवे नमः’—इस प्रकार उच्चारण करते हुए एक
भगवदीय पुरुष श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरके बाहर सेवा-
खण्डमें झाड़ू लगा रहे थे। ये थे सेठ पुरुषोत्तमदास काशी-
वाले। ये काशीनगरीकी नाक थे। ईश्वरके अनुग्रहसे इनपर
लक्ष्मीदेवी प्रसन्न थीं; परंतु सेठजी धनके अभिमानसे
सर्वथा निर्लिप्त थे।

एक बार स्वयं काशीराजको सेठकी सहायताकी
आवश्यकता पड़ी। वे सेठके घर पधारे। सेठ सादी
बंडी और धोती पहनकर सेवाकार्य कर रहे थे।
राजा साहब उन्हें पहचान न सके, अतः उन्होंने
पूछा—‘क्यों भाई! सेठजी कहाँ हैं?’ ‘जय श्रीकृष्ण
बोलो प्यारे! सेठजी तो भीतर मन्दिरमें विराजमान हैं,
मैं तो उनका दासानुदास हूँ।’—सेठजीने उत्तर
दिया। राजा सेठकी सरलतासे बहुत प्रभावित हुए,
साथ ही कुछ लज्जित भी। क्षमा-याचना करके वे
बातोंमें लग गये। उस दिनसे सेठकी दीनता, उनका
वैभक्त्याग तथा उनकी प्रभुपरायणता राजाके हृदयमें
बस गयी।

सेठके मनमें एक ही ग्रन्थि थी—‘प्यारे! जो कुछ
है, सब उन्हींका है। मुझे तो उनका काम करनेके लिये
यहाँ भेजा गया है। मेरे स्वभावमें जो दैन्यभाव रहता
है, यह भी उन्हींकी कृपाका फल है; नहीं तो इस
कलियुगमें दीनताके आचरण करनेका भी मनुष्यको
अहंकार हो जाता है। हम निःसाधन हो जायँ, इसके
पश्चात् वे जानें और उनका काम जाने।’ सेठ श्रीकृष्णके
दास थे, लौकिक और पारलौकिक, अशक्त्य और

शुश्रूषा—सबमें उनके एकमात्र शरण थे ‘श्रीहरिः’।
उन्हींमें उनका पूर्ण विश्वास था। वे चातक पक्षीका
उदाहरण देते कि केवल विश्वाससे ही वह स्वाति-
नक्षत्रका जल प्राप्त करता है। यदि अविश्वास करोगे
तो अनन्याश्रय चला जायगा और यह गया तो दुःसङ्ग
आयेगा, जिससे यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला
जायगा। ‘श्रीहरिः’ द्वारा निजेच्छासे पकड़ा हुआ अपना
हाथ छूट जायगा और फिर भवसागरकी लपेटोंमें चक्कर
काटना पड़ेगा—

‘हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।’

एक बार एक सिद्ध ब्राह्मण सेठके घर आये,
उन्होंने ‘जय श्रीकृष्ण’ किया। सेठने पूछा—‘क्या आज्ञा
है भूदेव! इस दीन किकारके घर किस सेवाके लिये
पधारे हैं?’ ब्राह्मणने कहा—‘देखिये सेठजी! मेरे पास
एक मणि है। वाह-वाह, कैसी अद्भुत मणि है। यह
बाजारमें नहीं मिलेगी। बताऊँ? आप खरीदेंगे?’
‘प्यारे! किस काम आती है वह मणि?’—सेठजीने पूछा।

‘किस काम आती है? सेठजी! यह भी कोई प्रश्न
है? बहुत कामोंमें आती है, इसे स्पर्श करते ही जो
माँगो वह मिलता है—स्वर्ण भी मिलता है, चाँदी भी
मिलती है।’—ब्राह्मणने उत्तर दिया।

‘आपने क्यों नहीं माँगा?’—सेठजीने परिहास किया।

‘श्रीहरि, श्रीहरि, हम ब्राह्मणोंको सोने-चाँदीसे क्या
काम? आप तो गृहस्थ हैं। सिरपर श्रीमदनमोहनजीकी
सेवाका भार भी है। खर्च भी बहुत होता है। इस
मार्गसे धन मिलेगा। अच्छे वेतनपर बहुत-से सेवक
रखकर फिर शान्तिसे सेवा कराना। वृद्धावस्था आनेपर
शरीर साथ नहीं देगा, उस समय शरीरसे न सही, पैसेसे
सेवा कराना। बात यह है कि आपका शुभ नाम

सुनकर मैं सीधे आपके पास आया हूँ । मेरा आना व्यर्थ न जाय, यह ध्यान रखना । श्रीहरि प्रसन्न होंगे, आपको मोक्ष मिलेगा ।’—ब्राह्मणने बात स्पष्ट कर दी ।

‘श्रीहरि इस प्रकार प्रसन्न नहीं होते प्यारे ! आपने कहा न कि हमारे सिरपर श्रीमदनमोहनजीकी सेवा विराजमान है, तो वे ही हमारे लिये सभी ऋद्धि-सिद्धिके दाता भी हैं । ऐसे उदार श्रीठाकुरजी और जगद्गुरु श्रीमदाचार्यवल्लभ प्रभुका आश्रय छोड़कर आपकी मणिके पीछे मैं क्यों पड़ूँ ? एक बात कहूँ ? हम तो कल्पवृक्षके नीचे बैठे हैं, फिर उलटी-सीधी चिन्ता हम व्यर्थ क्यों करें ? और इस वृक्षके समीप तो सदैव वसन्त-ही-वसन्त है, पतझड़ तो यहाँ कभी होता ही नहीं । हमारा मोक्ष तो गोकुलेश्वरके चरण-कमलोंका सतत स्मरण और भजन ही है । एक विनती करूँ ? इस मणिके स्पर्शसे जो माँगोगे वह मिलेगा—इस भ्रममें आप किसीको डालना भी मत । आप स्पर्श करके ही लगे हैं तो आपको क्या मिला है ? अरे, हमारे उदार प्रभु तो पत्र-पुष्प और फल-जलसे ही प्रसन्न हो जाते हैं । श्रीहरिने उत्तमोत्तम वर्णमें आपको जन्म दिया है तो इसे उत्तम ढंगसे उनके आज्ञानुसार अपने धर्मका पालन करके सार्थक करो प्यारे !’—सेठजीने समझाया ।

सेठजीकी दलीलोंसे सिद्ध ब्राह्मण आशाविहीन हो गये । उनको ऐसा लगा कि इस सेठके पास तो दाल गलेही नहीं । यह तो इस दुनियाका व्यक्ति ही नहीं है । इसे तो पक्का विश्वास है अपने श्रीमदनमोहनजीका और आचार्यचरणोंका । फिर भी अन्तिम पासा डालते हुए उन्होंने गद्गद-स्वरमें कहा—‘सेठजी ! देनेवाला तो ऊपरवाला ही है; परन्तु पृथ्वीपर किसीको निमित्त बनाकर ही देता है । मुझे विश्वास था कि आप निमित्त बनेंगे, परन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि जगदीश्वरने मुझे एक सेर आटेसे भी निराश कर दिया ।’

‘अरे, भूलते हो भैया ! जगदीश्वरको ऐसा दोष मत दो । चींटीको कण और हाथीको मन वे ही देते हैं । आपको एक सेर आटेकी आवश्यकता है और मेरे यहाँ दस सेरकी, तो सबको वे ही पूरा करेंगे । उनका भण्डार कभी घटनेवाला नहीं है ? हाँ, सम्भव है वे कभी कसौटीपर कसनेके लिये विलम्ब कर दें, परन्तु उन्हें हमारे शाश्वतोंमें भक्तपरायण, भक्तासक्त और भक्तवाञ्छा-कल्पतरु कहा गया है । उनमें आस्था रखनेपर, श्रद्धा रखनेपर, विश्वास रखनेपर हमें चिन्ता क्यों करनी चाहिये ? हाँ, मन और हृदयमें उनके प्रति निष्ठा होनी चाहिये । आचार्यचरणोंकी आज्ञा है—

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

आत्मनिवेदन करो, उनकी शरणागति स्वीकार करते ही समस्त चिन्ताएँ उनके सिरपर छोड़ दो । मैंने तो इनका एक श्रीविग्रह पधरा दिया है—निधिस्वरूप, इन अक्षयनिधिका ही मैंने आश्रय ले लिया है, इसलिये मुझे तो क्षमा करो, प्यारे ! आपकी मणि आपको लाभप्रद हो । मुझे तो यह मिट्टीके भावमें भी नहीं चाहिये । हमारे सूरदासजी कह गये हैं—

बड़ो धन हरिजन कूँ हरिनाम ।

सूरदास हरिसेवा जाकूँ, पारस सँ कहाँ काम ? बड़ो धन० ॥

सिद्ध ब्राह्मण सेठके कहनेका मर्म अच्छी तरह समझ गये । मात्र इतने ही शब्दोंमें भगवत्-शरणागतिके रहस्यका समग्र भाव समझानेके लिये उन्होंने सेठका आभार माना और कहा—‘सेठजी ! आप मेरे सच्चे गुरु हैं । मेरे अज्ञानका अन्धकार आपने अपने ज्ञानकी अञ्जनशलाकासे दूर करके मुझे अद्भुत प्रकाशका दर्शन कराया है । आपका अमूल्य समय अपनी निरर्थक बातोंमें नष्ट करनेके लिये मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ ।’

‘अरे भैया ! मुझे गुरु कहकर लज्जित क्यों करते हो । आज तो आपने मुझे ज्ञानके समुद्रमें ही गहरा उतार दिया । श्रीकृष्ण ही अपने-जैसे जीवोंकी एकमात्र गति हैं । उनकी स्वरूप-सेवा तथा कयामें आसक्ति दृढ़ करेंगे तो अन्तिम क्षणोंतक हमारे भगवद्वाक्यका लोक या परलोकमें कभी नाश नहीं होगा । वृन्दावनमें और गोकुलमें उद्धवजीके आगमनपर गोपीजनों और नन्दबाबाके यहाँ जिस प्रकारका महोत्सव हुआ था, उसी भावनासे भावित प्रभुकी कृपा होगी तो अपने मनमें भी किसी क्षण हो सकता है । इसलिये ‘जय श्रीकृष्ण’ बोलो, इससे हम सब समान-पदके अधिकारी होंगे ।’—सेठजीने निष्कर्ष बतला दिया ।

‘जय श्रीकृष्ण बापूजी’ कहकर सिद्ध ब्राह्मण शरणागतिका मन्त्र उच्चारण करते हुए चले गये और सेठजी भी पुनः ‘मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्,—’ का पाठ करते हुए अंदर कल्पवृक्षके नीचे विराजने चले गये ।

राजसेवकका धर्म

राजा विक्रमादित्य वेष-परिवर्तन करके नगरमें भ्रमण किया करते थे । वे कभी दिनमें निकलते तो कभी रात्रिमें, कभी नगरमें भ्रमण करते तो कभी जंगलोंमें भी चले जाते थे । एक बार कोई अमीर व्यक्ति घोड़े-पर सवार होकर जा रहा था, उसे रोककर राजाने पूछा—‘भाई ! यह मार्ग कहाँ जायगा ?’

वताया । ‘कोई मन्त्री हैं क्या ? मैं दरबारमें गया नहीं हूँ, इससे सबको जानता नहीं हूँ ।’—सैनिकने जिज्ञासा प्रकट की । ‘स्थान तो उससे भी ऊँचा है । मैं स्वयं राजा विक्रम हूँ, परंतु तुम राजसेवक होकर भी किसीको मार्ग नहीं बता सकते—इससे मुझे बड़ी लज्जा आ रही है । बोलो, क्या दण्ड दिया जाय तुम्हें ?’—राजाने स्पष्टता प्रकट की ।

‘कौन है तू ? मार्ग बतानेका काम मेरा नहीं है । जानता नहीं, मैं कौन हूँ ?’—घुड़सवारने कहा ।

‘क्या तुम राजाकी सेनामें रहते हो ?’—राजाने पूछा ।

‘हाँ, मैं सेनामें रहता हूँ । मेरा पद बहुत ऊँचा है ।’—घुड़सवारने उत्तर दिया ।

‘होगा, मैं भी राजसेवक हूँ ।’—राजा बोले ।

‘क्या करते हो ? हिसाब लिखते हो ?’—सैनिकने पूछा । ‘नहीं, मेरा पद इससे भी ऊँचा है ।’ राजाने

वह तो घोड़ेसे उतरकर चरणोंमें गिर पड़ा । राजाने उसे क्षमा कर दिया और दूसरे दिन आदेश निकाला—‘सभी नगरनिवासी ध्यान देकर सुन लें । सभी राजसेवकोंको प्रजाके साथ विनययुक्त व्यवहार करना चाहिये । अधिकार मिलनेपर अभिमान नहीं करना चाहिये । सेवाका अवसर प्राप्त होनेपर दूसरेकी सहायता करनेवाला व्यक्ति राजा विक्रमपर बहुत बड़ा उपकार करेगा, यह निश्चय समझना चाहिये ।’

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीराममुखदासजी महाराज)

गीतामें 'तद्' और 'अस्मद्' पदसे भगवान्का वर्णन

गीतामें यह अचौकिकता है कि भगवान्ने एक ही तत्त्वका वर्णन कई रीतियोंसे किया है । जैसे भगवान्ने 'तद्' पदसे भी अपना वर्णन किया है और 'अस्मद्' पदसे भी अपना वर्णन किया है । कारण कि साधकोंकी रुचि, विश्वास, योग्यता आदि अलग-अलग होते हैं; अतः किसीकी रुचि 'तद्'-पदवाची परमात्माकी प्राप्तिकी होती है और किसीकी रुचि 'अस्मद्'-पदवाची परमात्माकी प्राप्तिकी होती है ।

‘जिससे अनादिकालसे यह सृष्टि फैली हुई है, उसकी शरण हो जाना चाहिये’—‘तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी’ (१५ । ४); ‘जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मसे पूजन करना चाहिये’—‘यतः प्रवृत्तिः... स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य’ (१८ । ४६)—ऐसा कहकर ‘तद्’ पदसे और ‘मैं संसारका मूल कारण हूँ और मुझसे ही सारा संसार चेष्टा कर रहा है’—‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते’ (१० । ८)—ऐसा कहकर ‘अस्मद्’ पदसे भगवान्ने अपनेसे ही सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति बतायी है तथा अपनेको ही संसारमें व्याप्त बताया है ।

‘तू अनन्यभावसे उस परमात्माकी शरणमें चला जा’—‘तमेव शरणं गच्छ’ (१८ । ६२)—ऐसा कहकर ‘तद्’ पदसे और ‘तू अनन्यभावसे मेरी शरणमें आ जा’—‘मामेकं शरणं व्रज’ (१८ । ६६)—ऐसा कहकर ‘अस्मद्’ पदसे भगवान्ने अपनी शरण होनेकी आज्ञा दी है ।

‘जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परमात्मा अनन्य-भक्तिसे ही

प्राप्त हो सकता है’—‘पुरुषः स परः... सर्वमिदं ततम्’ (८ । २२)—ऐसा कहकर ‘तद्’ पदसे और ‘मुझ अव्यक्तमूर्तिसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है तथा सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं’—‘मया ततमिदं... मत्स्थानि सर्वभूतानि’ (९ । ४)—ऐसा कहकर ‘अस्मद्’ पदसे भगवान्ने अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको स्थित एवं अपनेको ही सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त बताया है ।

‘जो ज्ञेय-तत्त्व है, उसका मैं वर्णन करूँगा, जिसे जाननेसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है’—‘ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते’ (१३ । १२)—ऐसा कहकर ‘तद्’ पदसे और ‘सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ’—‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ (१५ । १५)—ऐसा कहकर ‘अस्मद्’ पदसे भगवान्ने अपनेको ज्ञेय-तत्त्वके रूपमें जाननेके लिये कहा है ।

‘ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित है’—‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति’ (१८ । ६१)—ऐसा कहकर ‘तद्’ पदसे और ‘मैं ही सबके हृदयमें अच्छी तरहसे स्थित हूँ’—‘सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः’ (१५ । १५)—ऐसा कहकर ‘अस्मद्’ पदसे भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित बताया है ।

‘जो मनुष्य अन्तकालमें सर्वज्ञ, पुराण, अनुशासिता आदि विशेषणोंसे युक्त सगुण-निराकार परमात्माका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस परम दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है’—‘कविं पुराणं...

पुरुषमुपैति दिव्यम्' (८ । ९-१०)—ऐसा कहकर 'तद्' पदसे और 'जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है'—'अन्तकाले च मामेव.....मद्भावं याति' (८ । ५)—ऐसा कहकर 'अस्मद्' पदसे भगवान् ने अन्त समयमें अपना स्मरण करनेवालेको अपनी प्राप्ति होनी बतायी है ।

तात्पर्य यह है कि गीतामें 'तद्' और 'अस्मद्' पदसे एक ही परमात्माका वर्णन हुआ है । 'जिसे प्राप्त होनेपर जीव लौटकर संसारमें नहीं आते, वही मेरा परमधाम है'—'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्दाम परमं मम' (८ । २१), 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्दाम परमं मम' (१५ । ६)—ऐसा कहकर 'तद्' और 'अस्मद्' पदवाची परमात्माकी एकता बतायी गयी है ।

गीतामें द्विविधा इच्छा

इच्छा तु द्विविधा प्रोक्ता जगतः परमात्मनः ।

अपूर्तिर्जगदिच्छायाः पूर्तिश्च परमात्मनः ॥

गीतामें सत् और असत्—इन दोका वर्णन आया है । मनुष्योंमें एक इच्छा तो 'सत्'की प्राप्तिकी होती है और एक इच्छा 'असत्' (सांसारिक भोगों)की प्राप्तिकी होती है । सत्की इच्छा भावरूप है अर्थात् सदा रहनेवाली है, कभी मिटनेवाली नहीं है और असत्की इच्छा अभावरूप है अर्थात् मिटनेवाली है (२ । १६) । अतः सत्की इच्छाकी पूर्ति होती है और असत्की इच्छाकी निवृत्ति होती है, अभाव होता है ।

वास्तवमें देखा जाय तो यह जीव साक्षात् परमात्मा (सत्)का अंश है और इसने प्रकृतिके अंश (असत्)-को पकड़ा है, उसके साथ तादात्म्य किया है (१५।७) । इसी कारण इसमें दो इच्छाएँ उत्पन्न हो गयी हैं । यदि यह प्रकृतिके अंशको न पकड़े तो असत्की इच्छाकी निवृत्ति और सत्की इच्छाकी पूर्ति हो जायगी ।

कारण कि परमात्माका अंश होनेसे परमात्म-प्राप्ति तो स्वतःसिद्ध है ही, केवल असत्को पकड़नेसे अपूर्तिका, अभावका अनुभव हो रहा था ।

कर्मयोगके प्रकरणमें इन्हीं दो इच्छाओंको व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका बुद्धिके नामसे कहा गया है (२।४१) । परमात्मप्राप्तिकी इच्छाको 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' और भोगोंकी इच्छाको 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि' कहा गया है । व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है; क्योंकि परमात्मतत्त्व एक है । मार्गभेदसे, पद्धतिभेदसे, रुचि और श्रद्धा-विश्वासके भेदसे इस परमात्मतत्त्वकी इच्छाको सुमुक्षा, प्रेमपिपासा, भगवद्दिक्षा आदि नामोंसे कह देते हैं; परंतु अव्यवसायात्मिका बुद्धि अनेक होती है; क्योंकि सांसारिक भोग और पदार्थ अनेक तरहके हैं । सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छाओंका कभी अन्त नहीं आता; अतः उनकी कभी पूर्ति हो ही नहीं सकती, उनका तो त्याग ही हो सकता है । इसलिये भगवान् ने गीतामें असत्की इच्छाके त्यागपर बहुत बल दिया है (२ । ४७, ५५, ७१; ३ । ४३; ५ । ११-१२; ६ । २४; १६ । २१-२२ आदि) ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें केवल सत् (परमात्मा)-की ही इच्छा होनी चाहिये । मनुष्यका जन्म असत्की इच्छा करनेके लिये हुआ ही नहीं है । कारण कि असत् अपना नहीं है और कभी साथमें नहीं रहता; परंतु सत् अपना है और सदा ही साथमें रहता है, कभी अलग नहीं हो सकता ।

गीतामें त्रिविध चक्षु

भवति त्रिविधं चक्षुश्चर्मचक्षुश्च देहिनाम् ।

कृष्णदत्तं दिव्यचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विवेकिनाम् ॥

गीतामें भगवान् ने तीन चक्षुओंका अर्थात् नेत्रोंमें देखनेकी शक्तियोंका वर्णन किया है—स्वचक्षु (चर्मचक्षु), दिव्यचक्षु और ज्ञानचक्षु । प्राणियोंके अपने-

अपने नेत्रोंमें जो देखनेकी शक्ति है, वह उनके 'स्वचक्षु' हैं। इसके विषयमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि 'तुम इस स्वचक्षुसे मेरे दिव्य विश्वरूपको नहीं देख सकते'— 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा' (११।८)। तात्पर्य यह हुआ कि इस स्वचक्षुसे सांसारिक वस्तुओंको ही देखा जा सकता है। भगवान्के विराटरूपको और शरीर-संसारसे अपने अलगाव (भेद)-को नहीं देखा जा सकता।

जिसमें भगवान्के अलौकिक, दिव्य, ऐश्वर्ययुक्त विराटरूपको देखनेकी शक्ति होती है तथा जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्यकी बातोंको जाननेकी और प्राणियोंके मनमें उत्पन्न होनेवाले भावोंको देखनेकी सामर्थ्य होती है, उसे 'दिव्यचक्षु' कहते हैं। गीतामें अर्जुनने भगवान्के किसी एक अंशमें स्थित विश्वरूपको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाते हुए चार बार 'देख ! देख ! देख ! देख' कहा; पर अर्जुनको विश्वरूपके दर्शन नहीं हुए। तब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'भैया ! तुम अपने स्वचक्षुसे मेरे इस रूपको नहीं देख सकते, अतः मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे विराटरूपको देखो'—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' (११।८)। ऐसा कहकर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये, जिससे अर्जुनने भगवान्के अलौकिक दिव्य विश्वरूपके दर्शन किये, जो सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी महिमा गाते हुए भगवान्ने कहा कि मैंने कृपा करके यह तेजोमय दिव्यरूप दिखाया है, इसे पहले तुम्हारे सिवाय किसीने भी नहीं देखा है (११।४७)। तात्पर्य यह है कि ऐसे विश्वरूपके दर्शन तो दिव्यचक्षुसे ही हो सकते हैं, चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षुसे नहीं।

स्वयं भगवान् और भगवान्से अधिकार प्राप्त किये हुए भगवत्स्वरूप कारक महापुरुष ही कृपा करके किसी कृपापात्रको दिव्यचक्षु दे सकते हैं। दिव्यचक्षु देनेकी सामर्थ्य प्रत्येक संत-महत्मामें नहीं होती। वेदव्यासजी महाराजने महाभारत-युद्धके आरम्भमें अपने कृपापात्र

संजयको दिव्यचक्षु दिये थे, जिससे संजयने भी भगवान्के विश्वरूपको देख लिया (१८।७७)।

जिससे नित्य-अनित्य, सत्-असत्, जड-चेतनका ठीक तरहसे बोध हो जाता है और जिससे अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, उसे 'ज्ञानचक्षु' (विवेकदृष्टि) कहते हैं। गीतामें भगवान्ने दो जगह ज्ञानचक्षुका वर्णन किया है—(१) जो ज्ञानचक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको ठीक देख लेते हैं तथा कार्य-कारणसहित सम्पूर्ण प्रकृतिसे अपनेको अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (१३।३४) और (२) जन्मते-मरते और भोगोंको भोगते समय भी यह जीवात्मा स्वरूपसे निर्लिप्त ही रहता है—ऐसा रागपूर्वक विषयोंका सेवन करनेवाले मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, प्रत्युत ज्ञानचक्षुवाले ज्ञानी मनुष्य ही जानते हैं (१५।१०)। इस प्रकार जानना ज्ञानचक्षुसे ही होता है, स्वचक्षुसे नहीं।

भगवान् और तत्त्वज्ञ जीवमुक्त महापुरुष ही ज्ञानचक्षु दे सकते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं। कारण, सामान्य मनुष्योंको स्वयंको ही ऐसा ज्ञानचक्षु प्राप्त नहीं है, फिर वे दूसरोंको कैसे दे सकते हैं? शास्त्रोंके जानकार (पण्डित) भी सत्-असत्का विवेचन तो कर सकते हैं, पर किसीको ज्ञानचक्षु नहीं दे सकते; क्योंकि उन्हें स्वयंको ही अनुभव नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य ऐसा ज्ञानचक्षु प्राप्त नहीं कर सकता; प्रत्युत इस ज्ञानचक्षुको प्राप्त करनेके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी इसे प्राप्त करनेका अधिकारी है (४।३६)। कारण कि मनुष्यशरीर केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है। अतः मनुष्य इस ज्ञानचक्षुको भक्ति करके भगवान्से प्राप्त कर सकता है (१०।११) अथवा तत्त्वज्ञ जीवमुक्त महापुरुषोंके अनुकूल बनकर प्राप्त कर सकता है (४।३४) अथवा तत्परतासे श्रद्धापूर्वक साधन करके भी प्राप्त कर सकता है (४।३९)। इस ज्ञानचक्षुके प्राप्त होनेपर मोह (अज्ञानान्धकार) सदाके लिये मिट जाता है (४।३५)।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

[रोगोंकी उत्पत्ति और फैलाव]

४-रोग-विकास-क्रम

१. तीव्र रोग (नये रोग)--जब आन्तरिक संचित मल पतले दस्त, उल्टी, सर्दी-जुकाम या खुजलीके रूपमें अल्प समयमें शरीरसे बाहर निकल जाता है, तब ऐसा निश्चितरूपसे मानना चाहिये कि शरीरकी जीवनी-शक्ति अच्छी है; क्योंकि अच्छी जीवनी-शक्तिके कारण ही संचित मलको तीव्र गतिसे निकलनेका अवसर मिलता है। सर्वप्रथम व्यक्तिकी तासीर या झुकावके अनुसार ही शरीर विशिष्ट शुद्धि-मार्गका चुनाव करता है। अतएव मार्गके चुनावमें व्यक्तिगत झुकावका प्रमुख स्थान है।

तीव्र रोगोंमें तीव्र गतिसे मल-शुद्धि होनेके कारण शरीर-शुद्धिकी प्रक्रिया कष्टप्रद या भयानक दीखनेपर भी रोग शीघ्र या कम समयमें दूर हो जाते हैं।

२. जीर्ण रोग (पुराना रोग)--जीर्ण रोगको पुराना रोग भी कहते हैं। संचित मल व्यक्तिगत तासीरके अनुसार शरीरके किसी शुद्धिकारक अवयवसे जब वेगपूर्वक बाहर निकलता है, उस समय पीड़ा या कष्ट होना स्वाभाविक है। इसी पीड़ा या कष्टसे घबराकर व्यक्ति अज्ञानवश प्रारम्भमें दवा लेनेकी ओर प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार कई लोग रोगोंकी चिकित्सा गलत ढंगसे करते हैं या औषध-सेवनके द्वारा रोगको शमन करनेका प्रयास करते हैं। अथवा जब औषधि-सेवन और कुपथ्य--दोनों साथ-साथ चलते हैं, तब प्रारम्भमें नया रोग औषधिके प्रभावसे कुछ समयके लिये शान्त हो गया, ऐसा प्रतीत होता है; किंतु कुछ समयके बाद वह रोग पुनः-पुनः होकर जीर्ण रोगका रूप धारण कर लेता

है। जब कोई व्यक्ति रोगकी चिकित्सा औषधिके द्वारा करता है, तब रोगी और चिकित्सक दोनों पथ्यपर अधिक भार नहीं देते और रोगी भी सोचता है कि अभी तो दवा चाढ़ है फिर यदि थोड़ा असंयम कर लिया तो दवाके प्रभावसे उसका दुष्परिणाम शरीरपर नहीं होगा। इस विश्वासके आधारपर रोगीका असंयमित जीवन नहीं छूटता, फिर भी वह सचमुच दवाके प्रभावसे थोड़े दिनोंमें अच्छा होने लगता है। बादमें दवा बंद हो जाती है, किंतु असंयम करते रहनेसे मनकी निग्रह-शक्ति क्षीय हो जाती है।

आजकल बहुत-से मधुमेही रोगी 'इन्सुलिन' द्वारा इलाज कराते हैं। वे ऐसा मानकर ही चलते हैं कि मधुमेहको इन्सुलिनद्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है, किंतु पूर्णतः निरोग होना अशक्य है। अधिकांश मधुमेहियोंका इन्सुलिन तथा मिठाई खाना--दोनों साथ-साथ चलता है। उन्हें भोजन या पाश्यामें जब मिठाई खानेका प्रसङ्ग आता है, तब वे उसके अनुपातमें इन्सुलिनकी अतिरिक्त मात्राकी पूर्व तैयारीसे वहाँ पहुँचते हैं।

औषधि-सेवनके पीछे एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य है और वह यह कि मानव भोग करना चाहता है, अति आहार करना चाहता है और उसके बाद पाचक चूर्ण या जुलाब लेकर उस अति आहारके परिणाम--कब्ज या अतिसारसे बचनेकी चतुराई बरतता है। दवाकी पहली खुराक लेनेपर उसे अपनी चतुराईकी सफलताका आभास होता है और उससे अति आहारकी आदत छूटती नहीं; अपितु वह समयके साथ और भी अधिक दृढ़ होने लगती है। दवाके सहारे हम शरीर या प्रकृतिके

नियमोंका व्यर्थ उल्लङ्घन करनेकी चेष्टा करते हैं, फलतः मनकी आदत बिगड़ती है; वह और भी अधिक दुर्बल हो जाता है। तब बुद्धिद्वारा समझनेपर भी हमलोग व्यवहारमें संयम करनेमें असफल होते रहते हैं।

इसी मानसिक दुर्बलताके कारण मानवमें असंयम और ओषधि दोनोंकी वृद्धि एक साथ समान अनुपातमें हुई है और इन दोनोंके सहारे मानवने असंयमसे संयम तथा कुपथ्यसे पथ्यकी ओर लौटनेकी यात्राको लम्बी और कठिन बना दिया है। यद्यपि वह असम्भव कदापि नहीं है।

आधुनिक समयमें अप्राकृत असंयमित जीवनको चलाने या निभानेकी दृष्टिसे अत्यन्त प्रभावशाली और कीमती ओषधियोंकी खोज हुई है और मनुष्यने इसे अपनी बड़ी सफलता मान लिया है। आज हम इसी मार्गपर तीव्र गतिसे अग्रसर हो रहे हैं। नयी-नयी कठिन बीमारियाँ और उतनी ही तीव्र ओषधियोंका निर्माण, दोनों पहियोंके सहारे हमारी सामाजिक स्वास्थ्यकी गाड़ी चट रही है। परिणाममें भोग और रोग दोनों स्पष्ट दिखायी देते हैं। आधुनिक विज्ञानने उपयोगी आपरेशन, प्लास्टिक, सर्जरी, एक्सरे आदिका जो आविष्कार मानव-हितकी दृष्टिसे किया है, वह हमें नहीं भूलना चाहिये। इतना श्रेय तो देना ही चाहिये।

मनुष्य अपने आहार-विहार तथा जीवन-क्रमको बदलकर अधिकांश रोगोंसे मुक्त हो सकता है, किंतु आधुनिक मनुष्य भोगके पीछे इतना मतवाला है तथा उस ओर उसका इतना झुकाव है कि इसके नशके जल्दी उतरनेकी सम्भावना नहीं है। उसने अपने जीवनका लक्ष्य परमतरवसे योगकी जगह भोगको चुना और यही हमारे सभी मानसिक तथा शारीरिक कष्टका मूल कारण और दुर्भाग्य है। लक्ष्य-परिवर्तनके बिना मानव तन-मनसे कैसे स्वस्थ रह सकता है ?

योगका सहज अर्थ है बुद्धका 'मध्यम मार्ग'। अर्थात् आहार-विहारको सम्यक् बनाना, दोनोंकी अतिसे बचना। वास्तवमें अति आहार और विहार दोनों हानिकारक हैं, ये जीवनकी आकस्मिक या अपवाद-स्वरूप घटनाएँ हैं। उपवास चिकित्साकी दृष्टिसे उपयोगी है, किंतु वह हमारी स्वाभाविक जीवनचर्या तो नहीं हो सकता। संयमित और मिताहार ही हमारे सहज आरोग्यमय जीवनकी नींव हो सकता है।

३. असाध्य रोग—संचित मलके शारीरिक मर्यादा-बिन्दुसे अधिक होनेपर शरीरमें तीव्र रोगोंकी उत्पत्ति होती है। उसके बाद तीव्र रोग या वेगवती शरीर-शुद्धिकी प्रक्रियाको ओषधि-सेवनसे शमन किया जाता है या केवल असंयमित जीवनके कारण रोग पुनः-पुनः प्रकट होकर पुराना हो जाता है, तब उसे जीर्ण रोग कहते हैं।

जीर्ण रोगकी अवस्थामें शरीरका संचित दूषित पदार्थ प्रायः उसकी जीवनी-शक्तिके काबूमें रहता है और इसलिये तबतक रोग कठिन होनेपर भी उसके रोग-मुक्त होनेकी सम्भावना बनी रहती है, किंतु जब संचित मलका बोझ धीरे-धीरे बढ़कर शरीरकी जीवनी-शक्तिकी मर्यादाके बाहर हो जाता है, तभी रोगको असाध्य माना जाता है। उस अवस्थामें रोग अच्छा हो जाय, इस आशासे चिकित्सा नहीं की जाती, रोगकी वृद्धि (या संचित मलकी वृद्धि) रुक जाय, इतना ही चिकित्साका उद्देश्य होता है। प्रायः ऐसी स्थितिमें दूषित पदार्थका बोझ ज्ञान-तन्तुपर पड़ता है और लकड़ा, नाड़ीशूल या नाड़ी-शैबल्य-जैसे असाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अन्तमें शरीर जब दूषित पदार्थोंके बोझसे पूरी तरह दब जाता है एवं शरीरमें जीवनी-शक्ति केवल नाममात्रके लिये रह जाती है, तब रोगी असाध्यकोटिमें पहुँच जाता है। आज असाध्य रोगोंमें सर्वोपरि स्थान 'कैंसर'का है।

दोष किसका ?

(श्रीदुर्गेशजी)

यह प्रत्येक मनुष्यकी इच्छा रहती है कि मैं सुखी रहूँ, परंतु सुखी कोई नहीं देखा गया; क्योंकि मनुष्यकी इच्छाका स्रोत कभी नहीं टूटता और जबतक इच्छा रहेगी, तबतक चञ्चलता रहेगी ही। जहाँ चञ्चलता है, वहाँ सुख कहाँ—‘अशान्तस्य कुतः सुखम्’। फिर यदि कहीं इच्छा पूरी हो जाती है तो लोभ और पूरी न होनेपर क्रोध होता है। अशान्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिये हमें पहले इच्छाका दमन करना चाहिये; क्योंकि हमारे लिये यह व्यर्थकी वस्तु है। जब कि पति पत्नीका पूरा ध्यान रखता है कि उसे कब किस वस्तुकी आवश्यकता है और वह स्वयं ही आवश्यक वस्तु उसे प्रदान करता है, तब उसके लिये इस चिन्ता-जालमें फँसे रहनेकी क्या आवश्यकता है !

मातृपरायण बालकको ही लीजिये—वह अपनी मातापर निश्चिन्त रहता है। वही वस्त्र पहना देगी, आवश्यक होगा तो नहला देगी, आँख आँज देगी। यहाँतक कि यदि अधिक भूख नहीं लगती तो वह दूध पीनेकी भी इच्छा नहीं करता और फिर दुग्ध-पानमें केवल क्षुधा-निवृत्तिका तो प्रश्न है नहीं, उसके साथ तो किसी और तत्त्वका भी सम्मिश्रण है। प्रधान तो स्नेह ही समझिये। अपने स्वामीका कृपा-स्नेह पानेकी इच्छा किसे न होगी ? इतना तो इच्छाका अधिकार ही है। या यों कहना चाहिये कि इच्छाका जीवन यहाँतक है। कहनेका तात्पर्य यह कि केवल प्रभुके लिये इच्छा हो। प्रभु-प्रेमके बिना प्रभुका प्रसाद नहीं मिलेगा। जब प्रभु प्रसन्न होंगे तो फिर वे अपूर्व निधि भी प्रदान करनेमें विलम्ब न करेंगे। यदि हम किसीको प्रसन्न करना चाहते हैं तो अपनेको उसके आदेशपर लगाना चाहिये। कुछ दिन श्रम करनेके पश्चात् जब श्वर लगन लग जायगी, तब फिर तो इस मायिक जगत्के भड़कीले पथपर आकृष्ट करनेपर भी चित्त इसकी ओर नहीं खिचेगा।

जन्मसे ही मायिक संसर्ग होनेके कारण हम इसे सत्य-सा ही माने हुए हैं। इसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्,

मृगमरीचिका आदि कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते भी हैं; परंतु हृदयपर यह बात ठहरती नहीं; क्योंकि हमारा चित्त भ्रममें फँस रहा है। हमारे हृदयकी आँखोंपर माया-मदिराका नशा छाया हुआ है, इसलिये वह वास्तविक सत्यको नहीं देखता। जिस समय हमारी ये आँखें उस भ्रमनिवारक जड़ीको देख लेंगी उस समय सत्य हमारे सामने प्रकट हो जायगा और जब हमारे सामने मानसरोवर लहराता होगा तब तो फिर हमें मृगमरीचिकाके पीछे दौड़नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। हाँ तो, वह जड़ी क्या है ? वह है प्रभुके समीप ले जानेवाला ज्ञान, जो वेद, पुराण और उपनिषदादिमें वैसे ही भरा पड़ा है, जैसे दूधमें घी, पर उसे हम देख नहीं पाते, अतएव वह हम-जैसे उपायहीनोंके लिये—पङ्क्तिके लिये दुर्गम पहाड़ीके सदृश हो रहा है। परंतु प्रभुकी कृपा तो देखिये, उन्होंने स्वयं ही हम साधारण प्राणियोंकी इस असुविधाको दूर करनेके लिये गीतामृत निकालकर अपने सभी जनों (नीच-से-नीच जीव भी प्रभुका प्यारा है) को समानरूपसे बाँट दिया—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥
(गीता ९।३२)

अब इतना सुलभ होनेपर भी मनुष्य यदि इसका अपने लिये प्रयोग न करे तो दोष किसका है ? माँ बच्चेके मुखमें स्तन दे देगी, पीना तो बच्चेका काम है। मेरा विचार है कि आज गीता-पाठ करनेवाले तो लाखों-करोड़ों होंगे, परंतु कोई ध्यान भी देता है कि गीताकी आज्ञा क्या है ? सम्भवतः वे वैसे ही विद्यार्थी हैं जो स्कूल तो प्रतिदिन जाते हैं, एक दिनका भी नागा नहीं करते, पर एक अश्वकी ओर भी ध्यान नहीं देते कि वह कैसे बनता है। दें भी कैसे, ध्यान तो खेलमें है, कब छुट्टीकी घंटी हो, कब खेलें। अध्यापक पाठ समझाते हैं, विद्यार्थीका मस्तिष्क किसीको दौव देने-लेनेमें लगा है।

अब बताइये दोष किसका है ?

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता

सब उसे देख रहे थे। वह कूद तो पड़ा था, परंतु अपने लड़केको बचानेके स्थानपर वह तो जा रहा था दूसरी ओर जहाँ दूसरे व्यक्तिका लड़का डूब रहा था। इधर उसका अपना लड़का जोर-जोरसे चींकार करता पानीमें डूब रहा था—‘बापूजी ! आइये बचाइये ।’ परंतु उधर तो वह देखता ही न था। आश्चर्य ही था ! औरस संतानको छोड़कर दूसरेकी संतानको बचानेके लिये दौड़नेकी मूर्खता वह क्यों करता था ? उसका उससे क्या सम्बन्ध है, इसका कोई उत्तर उस किनारेपर खड़े व्यक्तियोंके पास न था। एक लम्बी गहरी डुबकी मारकर उसने उस लड़केको पकड़ लिया और पुनः गहरे पानीमें उतर गया, परंतु उसका अपना लड़का एकदम नहीं मिला। ‘वास्तवमें खो गया, इसने अपना स्वयंका पुत्र खो दिया—इस दूसरे लड़केको बचानेमें ।’—यह सोचकर लोगोंके हृदयकी धड़कन तेज हो गयी थी।

खाड़ीका जल बहुत अधिक गहरा था। उस किनारे-पर सामने महादेवजीका एक मन्दिर था। वहाँ आज मेला लगनेवाला था। नौकामें बैठकर उस पार जाते समय यह घटना घटी थी। नौका उल्ट गयी थी। रोने-ओने, चीखने-चिल्लानेके मध्य भी उसने अपनी आन्तरिक स्वस्थता सुरक्षित रखी थी। उससे जितना हो सका उतना सब करने लगा। पानी बहुत वेगसे उछल रहा था। एक पराया बालक तो बच गया था; परंतु अब अपने लड़केको वह ढूँढ़ रहा था। इतनेमें वह भी हाथ आ गया। कंधेपर रखकर वह उसे किनारेपर ला रहा था। इसी बीच सहायतामें आनेवाली नौकाएँ उसके समीप पहुँच गयीं और उसे नौकामें बैठा लिया।

बालक मूर्छित हो गया था, उसे अस्पतालमें ले जाना बहुत आवश्यक था। अस्पतालकी ओर विश करके समय किसीने पूछ लिया—‘अपने पुत्रको छोड़कर तुम उस दूसरे बालकको बचाने क्यों गये थे ?’ उसने उत्तर दिया—‘एक बार इसके पिताने मुझे अपने रक्तका दान देकर मृत्युके मुँहसे बचा लिया था। उसके उपकारका सुन्दर बदला चुकानेकी अपनी भावनाकी वास्तविक कसौटी करनेका प्रभुप्रेरित अवसर यही है, ऐसा समझकर मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया है ।’—ऐसा कहता हुआ वह बालकको लेकर अस्पताल चला गया।

—अखण्ड आनन्द

(२)

पावन स्मरण

कुछ वर्षोंपूर्व मैं दिल्लीसे बड़ौदा जा रहा था। मैंने अपने स्वभाववश सभी रुपया, कैमरा आदि बेगमें रखकर, वह बेग दृष्टिके समक्ष रहे, इस प्रकार ऊपर सीटपर रख दिया। चाटू रेलगाड़ीमें शौंके आने लगे और एक लम्बे शौंकेके साथ मैं मथुरा जा पहुँचा। सामने दृष्टि गयी तो बेग नहीं था। जेबमें थोड़ी रेजगारी-के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, मैं उलझनमें पड़ गया। अंतमें मुझे मथुरामें रह रहे एक मित्रका स्मरण हो आया। मैं गाड़ीसे उतरकर बाहर जानेको तैयार हुआ। टिकट भी बेगमें ही थी, अतः गेटके समीप पहुँचकर मैंने टिकटलेक्चरको सब बात बतायी तथा रेलवे पुलिसमें रिपोर्ट भी लिखायी, परंतु बेगके वापस मिलनेकी आशा तो छोड़ ही दी थी।

बेगमें नकद रुपये, मूल्यवान् कैमरा और अन्य वस्त्रादि मिलाकर बहुत अधिक रुपयोंका सामान था। जैसे-तैसे मैंने मित्रका घर ढूँढ़ा। मित्रने सान्त्वना दी।

मेरा मन एकदम निराश हो गया था। फिर मित्रके पाससे रुपया उधार लेकर मैं बड़ौदाके लिये चला।

जैसे-जैसे बड़ौदा समीप आता गया वैसे-वैसे मेरे हृदयकी धड़कन बढ़ने लगी, घरकी ओर तो पैर बढ़ते ही न थे। अन्तमें मैं मनको कड़ा कर चल पड़ा। घरके पास पहुँचकर पुनः मेरे पैर पीछेकी ओर मुड़ने लगे। घरके समीप ही मेरी छोटी बहन हाथमें खिलौना लिये खेल रही थी। बहनके हाथमें खिलौना देखकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। मैं सोचने लगा कि इसे तो मैंने दिल्लीमें खरीदा था, यह वही है, यहाँ कैसे आया। मैंने खिलौना बहनके हाथसे झपटकर छीन लिया और ध्यानसे देखने लगा। बस-बस, यही है। मैं घरमें दौड़ा गया। माँने कहा—‘अरे! यह तेरा बेग कल ही पार्सलसे आया है। बेगमें रसीदके साथ पत्र भी था। बेबीमें धैर्य नहीं था, अतः मैंने ताला तोड़ दिया।’

मेरा हृदय तो जोर-जोरसे उछल रहा था। माँके पाससे पत्र लेकर पढ़ने लगा—‘भाईजी! बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ रहा है कि रेल्गाडीसे हमारे सामानके साथ भूलसे आपका बेग भी उतर गया। अच्छा हुआ कि ऊपर आपका पता लिखा था, नहीं तो उलझन खड़ी हो जाती। आपको दिक्कतें पड़ी होंगी, उसके लिये क्षमा करेंगे। हमारा पता पत्रमें लिखा है। किसी समय अवश्य पधारियेगा। बस, लि०—यमुना बहन।’

पत्र पढ़कर मुझे अपनी बगलमें ही बैठी हुई उस बहनका स्मरण हो आया। हाँ, हाँ, वही यमुना बहन होंगी।

—अन्बास ई० ए०

(३)

सत्यका फल

गुजरातके एक छोटे-से गाँवमें नयी पाठशाला प्रारम्भ हुई। उसके उद्घाटन-समारोहमें लोगोंने बड़े उत्साहसे भाग लिया। छोटे-छोटे बच्चे भी नबे-नये कपड़े पहनकर प्रथम दिवसके उत्सवमें सम्मिलित हुए थे।

एक स्नातक युवकने स्वेच्छासे शिक्षकके रूपमें सेवा सँभाली थी। उस समय ‘सत्य’ को बहुत महत्त्व देकर प्रवचन हुए। गाँधीजीके चित्रपर फूल-माला अर्पण की गयी। प्रसाद-वितरण हुआ। इस प्रकार छोटे-बड़े सभी लोगोंने उसवकी सफलतामें सहयोग दिया।

पाठशाला नियमित रूपसे प्रारम्भ हो गयी। उस पाठशालामें अर्जुन नामका एक लड़का पढ़ता था। उद्घाटनके समय जो ‘सत्य’को महत्त्व देकर प्रवचन हुए थे, वे उसे स्मरण हो गये थे और उसने उस दिनसे सत्य बोलना प्रारम्भ कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप उसे एक-दो बार मार भी खानी पड़ी थी, परंतु उसे इसका दुःख न था।

एक दिन एक ऐसी घटना घटी कि गाँवमें कुछ नशीली वस्तुएँ बनती हैं—इसकी सूचना जिला-पुलिस-अधिकारीको मिली और उसने गाँवपर छापा मारा। अधिकांश व्यक्ति नशीली वस्तुएँ बनानेका ही काम करते थे, अतः गाँवभरमें सनसनी फैल गयी।

एक घरपर पुलिसने विशेषरूपसे छापा मारा। घरमें कोई नहीं मिला। मात्र एक आठ वर्षका बालक अर्जुन था। डी० एस० पी०ने प्रश्नोत्तर प्रारम्भ किये और पूछा कि तुम्हारे पिता जो नशीली वस्तुएँ बनाते हैं वे कहाँ रखी हैं। अर्जुनने कहा—चलिये बताऊँ! और जिसकी खजानेमें भी कलरना नहीं थी वे सब वस्तुएँ उसने पुलिसको बता दीं तथा घरके और पड़ोसके लोग कहाँ छिपे हैं, यह भी बता दिया। सब लोग पकड़ लिये गये। गाँवके लोग अर्जुनको गाली देने लगे—‘आग लगे इस पाठशालामें, बुरा हो इस सत्यवादीका! गाँवका भंडाफोड़ ही कर दिया इसने।’

अर्जुन अपने पिताके हाथमें लोहेकी बेड़ियाँ देखकर रोने लगा। डी० एस० पी० मद्रासी थे। सहायभूति रखनेवाले थे। वे छोटे बालक अर्जुनकी सच्चाईपर प्रसन्न थे। उन्होंने सभी लोगोंको समझाया—‘मैं तुम

सबको छोड़ सकता हूँ, परंतु तुमलोग प्रतिज्ञा करो कि आजसे इस धंधेमें हाथ न लगायेंगे और मन लगाकर खेतीके काममें लग जायेंगे ।' सबने प्रतिज्ञा की ।

आज वह गाँव उस अपवित्र धंधेसे मुक्त हो गया है और सम्पत्तिशाली बनकर शोभित होता है । अर्जुन आज भी कापी-पेन लेकर पाठशालामें पढ़ने जाता है ।

—कन्हैयालाल रामानुज

(४)

आभार ऊपरवालेका

घटना कुछ साल पहलेकी है । एक कुएँसे थोड़ी दूरपर वृक्षके समीप खेल रहे कुछ बालक खेलते-खेलते कुएँपर आ गये और पता नहीं कैसे क्या हुआ एक बालक कुएँमें गिर गया । सभी बालक घबरा गये । गाँव दूर था । बालकोंकी कलबलहट कौन सुने ?

इतनेमें एक किसान समीपके शहरमें फसलका अनाज बिक्री करके खाली गाड़ी लेकर मस्तीसे बैलोंको हाँकता हुआ वापस आ रहा था । बालकोंकी कलबलहट सुनकर वह फुर्तीसे बैलोंको वृक्षसे बाँधकर दौड़ा । स्थिति समझते देर न लगी । कुछ भी विचार किये बिना उसने कुएँमें डुबकी लगायी ।

कुआँ अधिक गहरा नहीं था, फिर भी दो-तीन डुबकी खाये हुए बालकके शरीरको हाथमें ले लिया । सिरको पानीसे बाहर ऊँचा किया, जिससे थोड़ा श्वास ले सके ।

गाँवमेंसे मनुष्य दौड़कर आ गये, उन्होंने कुएँमें रस्सा फेंका । उसके सहारे बालक और वह किसान बाहर आ गये । सद्भाग्यसे बालक बच गया था । पानी पी गया था । डाक्टरके समीप तुरंत ले जाया गया । बालकके कुटुम्बी सार-सँभालमें लगे रहे, इसी धूमधाममें बालकको बचानेवालेका आभार व्यक्त करनेका काम शेष रह गया । दो व्यक्ति शीघ्रतासे दौड़ते गये । वह परोपकारी किसान शरीरको पोंछ रहा था । उसकी जेबमें रखे नोट भींग गये थे ।

आनेवाले बोले—‘चलिये, गाड़ी ले चलिये गाँवमें । कपड़े बदल लीजिये और आपके नोट खराब हो गये

हों तो उनका भी कोई मार्ग निकाला जाय । आपका जितना उपकार मानें उतना कम है ।’

‘अरे भाई ! आभार और उपकार तो तब मानते जब आपलोगोंने काम बताया होता और मैंने आप लोगोंके कथनानुसार किया होता । यह तो भगवान्ने संकेतसे बताया और मैंने कर दिया । आभार मानो तो ऊपरवालेका मानो । बालक बच गया है, यह समाचार मिलनेके पश्चात् गाँवमें जानेकी मेरी कोई आवश्यकता नहीं है । ‘प्रेमसे बोलो जय सियाराम’ कहते हुए उसने अपना मार्ग पकड़ा । —रजुभाई मकाणी

(५)

अधिकार और कर्तव्य

मेरे एक मित्र अभी अफ्रीकासे लौटकर भारत आये हैं । वे खंय टेकनिकल इंजीनियर हैं और वहाँके केच-अप बनानेवाली एक फैक्ट्रीको देखने गये थे । उनका अनुभव उन्हींके शब्दोंमें ही कहता हूँ—

‘मैं जब फैक्ट्रीके चीफ इंजीनियरसे मिलने गया तो उनके पहननेके वस्त्रोंको देखकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा । उन्होंने एक साधारण मजदूर-जैसे सफेद कपड़े पहन रखे थे ।

‘यह क्या ! आप इन वस्त्रोंमें कैसे ? आप तो फैक्ट्रीके चीफ इंजीनियर हैं । आपको तो मात्र देखभाल करनी होती है तो फिर ऐसा ड्रेस क्यों पहने हुए हैं ?’ मैंने अपना आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा ।

‘मेरा प्रश्न उन्हें अच्छा नहीं लगा—ऐसा भाव मुखपर लाते हुए वे बोले—‘आपकी बात ठीक नहीं है । फैक्ट्रीमें मशीन कत्र खराब हो जायगी, इसका कोई निश्चित समय नहीं है । उस समय मैं यह ड्रेस पहनने जाऊँ तो समयका अव्यय होगा और उतना प्रोडक्शन कम होगा ।’

भारतीय मुद्रामें लगभग पंद्रह हजार रुपये मासिक वेतन पानेवाले मि० जहोन्का उत्तर सुनकर मैं चकित रह गया । अधिकार, कर्तव्य और समयकी सावधानीका कैसा उत्तम विचार है ! —गोपालचन्द गुजराल

मनन करने योग्य

(१)

जीवनके दो दृश्य

लगभग चालीस वर्षकी आयुकी एक विधवा माँ थी, उसके दो लड़के थे। उसने सुख-दुःख सहकर उन्हें पाला-पोसा और पढ़ाया। लड़के कामपर लग गये। माँको संतोष हुआ। संसारमें सामान्यतः जैसा होता है, उसी प्रकार लड़कोंका विवाह हुआ। बहुएँ आयीं। आनन्दसे दिन व्यतीत होने लगे। घरकी हरी बाटिका प्रफुल्लित हो गयी। परंतु कशक्त है—‘सब दिन होत न एक समान।’ माँके दिन भी पुनः पलटे। बहुएँ तो कहती ही थीं, बेटे भी माँकी उपेक्षा करने लगे। धीरे-धीरे माँको तिरस्कारका कटु अनुभव होने लगा। कभी-कभी ऐसे शब्द भी कानोंमें पड़ते—‘बुढ़िया मरती भी नहीं है।’

एक बार छोटी-सी बातपर दोनों भाइयों और बहुओंमें परस्पर झगड़ा हो गया और दोनों अलग-अलग रहनेकी बात करने लगे। तब माँने कहा—‘भैया! एक साथ रहोगे तो खर्च कम होगा। सगे-सम्बन्धियोंके यहाँ व्यवहार आदिमें किसी एकके जानेसे भी काम चल सकता है। अलग रहोगे तो व्यवहार अलग-अलग निभाना पड़ेगा। बीमारी आदिमें भी उलझन पड़ेगी।’ परंतु आजके युवकोंकी वृद्धोंकी बात कब अच्छी लगती है।

बेटे अलग हुए। माँका क्या करना है, यह प्रश्न उठा। छोटेने कहा—‘भाई! आप बड़े हैं, माँको आप ही रखें।’ बड़ेने कहा—‘माँ मुझ अकेलेकी थोड़े ही है।’ छोटेने कहा—‘मैं अपने हिस्सेमें आनेवाला खर्च तो देता ही रहूँगा, फिर क्या अड़चन है?’ बड़ेने कहा—‘परंतु माँकी सभी सार-संभाल मैं अकेला ही क्यों करूँ?’ माँकी अमृत-भरी दृष्टि प्राप्त करनेको कोई तैयार नहीं हुआ। दोनोंने अस्वीकृति दे दी।

पीले पत्तेकी सामर्थ्य ही कितनी! माँ भगवान्से प्रार्थना करने लगी—‘हे संसारके रक्षक! अब शीघ्र-से शीघ्र मुझे बुला लो। पेटका लड़का ही खानेको नहीं

पूछता, यह दुःख मैं किसे सुनाऊँ? कहते भी लज्जा लगती है। न कहा जाता है और न अब सहा जाता है।’

अब एक दूसरा दृश्य देखिये—एक माँके तीन बेटे थे। वे सभी पढ़े-लिखे थे। पहला प्रोफेसर हुआ, दूसरेने व्यापार प्रारम्भ किया और तीसरा डाक्टर बना। भगवान्की कृपा मानकर माँ शान्तिपूर्वक दिन व्यतीत करती रही।

भाग्यका खेल! माँ लगभग पैंतालीस वर्षकी आयुमें विधवा हो गयी। पुत्रोंने पिताकी छाया खो दी। पिताके जानेका पुत्रोंको अपार दुःख हुआ, परंतु उन्होंने माँके दुःखके आगे अपना दुःख भुलाकर माँको सान्त्वना दी। माँको किसी बातका कष्ट न हो, कोई विचार मनमें न आये—इसकी सब सावधानी रखने लगे।

अलग-अलग व्यस्ताय रहनेसे भाइयोंको अलग-अलग रहना पड़ा। माँ बड़े लड़केके पास रहने लगी। बड़ेने माँकी सेवा भगवान्से भी अधिक मानकर की। माँ प्रसन्न थी।

एक दिन मँझला भाई बड़ेके घर आया और बोला—‘बड़े भाई! माँ आपके यहाँ बहुत रह चुकीं, अब माँको मैं ले जाना चाहता हूँ, वे मेरे यहाँ रहेंगी।’ तभी छोटा भाई भी आ गया, उसके साथमें बहू भी आयी थी। दोनों कहने लगे—‘माँ हम आपको लिखने ही आये हैं।’ बड़ा और उसकी स्त्रीने कहा—‘भाई! माँको तो हमारे पास ही रहने दो। माँ तो बड़ेके पास ही अच्छी लगती है।’

माँ एक मधुर-उलझनका अनुभव करने लगी। नेत्रोंमें अश्रु छलक आये। मन-ही-मन कहने लगी—‘बेटे हों तो ऐसे हों?’

× × ×

यह है अपना संसार। कटु भी है और मधुर भी। कटु भी मनुष्य बनाता है और मधुर भी मनुष्य ही बनाता है। पहला दृश्य है कलियुग—कलहयुगका, दूसरा है सत्ययुग—कर्तव्य और त्यागका उदाहरण। अच्छा-बुरा सभी समझते हैं, परंतु ऐसे प्रसंग देखकर, सुनकर, पढ़कर कुछ भी आचरणमें नहीं लाते। (अखण्ड आनन्द)

(२)
अन्यायका पैसा

न जाने क्यों सम्राट् की नींद यकायक उड़ गयी। पलंगपर पड़े रहनेके बदले बादशाह उठकर बाहर निकल आया। निःस्तब्ध रात्रि थी। पहरेदारने अभी-अभी बारहके घंटे बजाये थे। पासके बैठकखानेमें तेज प्रकाशका एक बढ़िया दीपक जल रहा था। सम्राट् ने कौतूहलवश उस ओर पैर बढ़ाया।

बहीखातोंके ढेरके बीचमें वित्त-विभागका मन्त्री किसी गहरी चिन्तामें डूबा बैठा था। सम्राट् के पैरोंकी धीमी आहट सुननेतककी उसे सुन्न न थी। साम्राज्यपर अचानक कोई भारी विपत्ति आ पड़ी हो और उसे दूर करनेका उपाय सोच रहा हो—वह इस प्रकार ध्यानमग्न था।

सम्राट् कुछ देरतक यह दृश्य देखता रहा और मेरे राज्यके ऊँचे अधिकारियोंमें ऐसे परिश्रमी और लगनवाले पुरुष हैं, यह जानकर उसे अभिमान हुआ।

‘क्यों बड़ी चिन्तामें डूब रहे हो, क्या बात है ?’—सम्राट् ने पूछा।

मन्त्रीने उठकर सम्राट् का स्वागत किया। अपनी चिन्ताका कारण बतलाते हुए उगने कहा,—‘गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष लगानकी वसूलीके आँकड़े कुछ अधिक थे, इसलिये मैंने स्वयं ही इसकी जाँच करनेका निश्चय किया।’

‘इस वर्ष लगान अधिक आया है, इसका तो मुझे भी पता है; परंतु ऐसा क्यों हुआ, यह ज्ञात नहीं।’ सम्राट् ने यह कहकर वित्तमन्त्रीकी बातका समर्थन किया।

‘उस कारणको खोज निकालनेके लिये ही मैं जागरण कर रहा हूँ सरकार ! सारे बहीखाते उलट डाले, कहीं खास परिवर्तन नहीं प्रतीत हुआ। संवत् भी बहुत अच्छा नहीं था।’—वित्तमन्त्रीने असल बात कहनी आरम्भ की।

‘तो हिसाबमें भूल हुई होगी।’—सम्राट् ने कहा।

‘हिसाब भी जाँच लिया सरकार ! जोड़-बाकी सब ठीक हैं !’—वित्तमन्त्रीने चिन्ता व्यक्त की।

‘तब तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। लगान तो बढ़ा ही है न ? इसमें चिन्ताकी कौन-सी बात है ? रात बहुत चली गयी है, अब इस बखेड़ेको कलपर रखो।’—सम्राट् ने उक्ताकर मुँह फेर लिया।

‘आमदनी बढ़ी है, यह ठीक है; परंतु यही तो साम्राज्यके लिये चिन्ताका कारण है। लगानकी कमी सही जा सकती है, परंतु अन्यायकी यदि एक कौड़ी भी खजानेमें आ जाती है तो वह सारे साम्राज्यको नष्ट कर देती है।’ वित्तमन्त्रीने अपने उद्देगका इतिहास धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—‘सरकार ! यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। किसानोंकी पैदावार नाममात्रकी है। गतवर्ष गर्मी बहुत पड़ी थी, इससे गङ्गा-यमुना-जैसी भरी-पूरी नदियोंका जल भी सूख चला था। जल सूख जानेसे किनारेकी जमीन निकल आयी थी। इस जमीनमें लोगोंने कुछ बाड़े बनाये और उन्हींके द्वारा सरकारी खजानेमें कुछ धन अधिक आया। आमदनी बढ़नेका यही गुप्त रहस्य है।’

‘नदियाँ सूख गयीं—जल दूर चला गया और लगान बढ़ा।’ मन्त्रीकी चिन्ताने सम्राट् के चित्तपर भी चिन्ताका चेप लगा दिया। कुछ देरतक इन्हीं शब्दोंको वह रटता रहा।

‘नदीका जल सूखना भी तो एक ईश्वरीय कोप है। इस कोपको सिर लेकर लगानकी मौज उड़ानेवाली बादशाही कबतक टिकी रह सकती है ? यह अन्यायका पैसा है। मेरे खजानेमें ऐसी एक कौड़ी भी नहीं आनी चाहिये।’—सम्राट् ने अपनी आज्ञा सुना दी। वित्तमन्त्रीकी चिन्ता अकारण नहीं थी, सम्राट् को इसका अनुभव हुआ।

‘इन सारी गरीब प्रजाका लगान लौटा दो और मेरी ओरसे उनसे कहला दो कि वे रात-दिन गङ्गा-यमुनाको भरी-पूरी रखनेके लिये ही भगवान् से प्रार्थना करें। लगानकी बढ़ती नहीं, परंतु यह न्यायकी वृत्ति ही इस साम्राज्यकी मूल भित्ति है।’—सम्राट् ने जाते-जाते यह कहा। धन्य !

सम्राट् की न्यायप्रियता और लोभका सर्वथा त्याग ही राज्यकी सुख-शान्तिका कारण था।

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकृत कुछ जीवनोपयोगी पुस्तकें

नाम पुस्तक	मूल्य	नाम पुस्तक	मूल्य
शिक्षाप्रद पत्र	... १.५०	नारी-धर्म	२५
रामायणके आदर्श पात्र	... १.५०	सामयिक चेतावनी	२०
महाभारतके आदर्श पात्र	... १.५०	सत्संगकी सार बातें	२०
तत्त्व-चिन्तामणि भाग १	... २.००	तीन आदर्श देवियाँ	२०
" भाग २	... ३.००	गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और	
" भाग ३	... ३.५०	ज्ञानयोगका रहस्य	२०
" भाग ४	... ४.००	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	२०
" भाग ५	... २.५०	प्रेमभक्ति-प्रकाश	१५
" भाग ६	... ३.००	संत-महिमा	१५
" भाग ७	... ४.००	वैराग्य	१५
मनुष्यका परम कर्तव्य	... ३.५०	चेतावनी	१५
कर्मयोगका तत्त्व	... ३.००	सत्यकी शरणसे मुक्ति	१०
आत्मोद्धारके साधन	... २.५०	भगवान्की दया	१०
भक्तियोगका तत्त्व	... २.५०	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता	१०
परम शान्तिका मार्ग	... २.५०	शोकनाशके उपाय	१०
ज्ञानयोगका तत्त्व	... २.५०	परलोक और पुनर्जन्म	१०
प्रेमयोगका तत्त्व	... २.००	अवतारका सिद्धान्त	१०
अध्यात्मविषयक पत्र	... १.००	ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन	१०
परमार्थ-पत्रावली भाग १	५०	कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ	१०
" भाग २	... १.००	धर्म क्या है ?	१०
" भाग ३	... १.२५	स्त्रियोंके घरेलू प्रयोग	१०
" भाग ४	... १.२५	गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग	१०
आदर्श भ्रातृ-प्रेम	९०	हमारा कर्तव्य	१०
बाल-शिक्षा	५०	प्रेमका सच्चा स्वरूप	१०
ब्रह्मचर्य और सन्ध्या-गायत्री	४०	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	१०
नवधाभक्ति	४०	तीर्थोंमें पालन करने योग्य उपयोगी बातें	१०
आदर्श नारी सुशीला	४०	त्यागसे भगवत्प्राप्ति	१०
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन	३०	महात्मा किसे कहते हैं ?	१०
ध्यानাবस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	३०	श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	१०
भारतीय शास्त्रोंमें नारी-धर्म	३०	Gems of Truth Part I	2.50
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा	३०	" Part II	2.00
भगवान् क्या है ?	३०	Sure steps to God	2.25
भरतजीमें नवधा भक्ति	२५	What is God ?	.20
		What is Dharma ?	.10

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५

‘कल्याण’का (जनवरी सन् १९८८ ई० का) विशेषाङ्क—‘शिक्षाङ्क’

शिक्षा ही किसी विकासशील देशकी वह नींव है, जिसपर उसका सांस्कृतिक स्वर्णिम भविष्य एवं सर्वविध उन्नयन निर्भर करता है। इस दृष्टिसे नववर्ष—सन् १९८८ ई०में गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा आजके सबसे महत्वपूर्ण, चर्चित तथा ज्वलन्त विषय ‘शिक्षा’ पर ‘कल्याण’के ६२वें वर्षका यह विशेषाङ्क प्रकाशित किया जा रहा है। इस अङ्कमें अनादिकालसे प्रचलित भारतकी विभिन्न शिक्षा-पद्धतियाँ, गुरु-शिष्य-परम्पराका आदर्श, शिक्षाका मूल उद्देश्य, देशकी संस्कृति और सभ्यतापर शिक्षाका प्रभाव, मानवीय गुणोंके विकासमें शिक्षाका महत्त्व, वर्तमान समयमें शिक्षाके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण, सामाजिक और पारिवारिक जीवनमें परस्पर सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा कर्तव्यपालनकी पौराणिक एवं वैदिक कथाओंका संकलन और भारत-सरकारकी नयी शिक्षा-नीति आदि महत्त्वपूर्ण और सर्वजनोपयोगी विषयोंपर सरल, सुगम और सारगर्भित सामग्री रहेगी। यह अङ्क बालकों, अभिभावकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, शिक्षाविदों, विद्वानों, विचारकों तथा देश और समाजके अग्रणी नेतृ-वर्ग और राजनेताओंके लिये तो परमोपयोगी होगा ही; गाँवों और नगरोंमें रहनेवाले सर्वसाधारण सदृशहस्तोंके लिये भी महत्त्वका सिद्ध होगा। विश्वविद्यालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों, वाचनालयों एवं सभी शिक्षण-संस्थाओंके लिये भी यह परम उपदेय होनेसे सर्वथा संप्रहणीय है।

इच्छुक सज्जनों एवं संस्थाओंको शुल्क-राशि मनीआर्डर या ड्राफ्टद्वारा अग्रिम भेजकर अपनी प्रति पहले ही सुरक्षित करा लेनी चाहिये। जो सज्जन या संस्था गीताप्रेस, गोरखपुरकी कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, पटना, वाराणसी, हरिद्वार, ऋषिकेश-स्थित अधिकृत दूकानोंसे अथवा अपने स्थानीय विक्रेताओंसे प्राप्त करना चाहेंगे, उन्हें वार्षिक शुल्क ३८.०० (अड़तीस रुपये) के स्थानपर मात्र ३३.०० (तीस रुपये) देनेपर ही ‘कल्याण’ प्राप्त होता रहेगा अर्थात् रजिस्ट्री आदि डाकखर्चके छूटकी उन्हें विशेष सुविधा सुलभ होगी।

ग्राहक सज्जनोंसे एक अत्यावश्यक निवेदन

जैसा कि ‘शिक्षाङ्क’का वार्षिक शुल्क ३८.०० (अड़तीस रुपये) मात्र, डाक-खर्चसहित है। जिसकी सूचना यद्यपि बहुत पहले ही (पिछले अङ्कोंमें) दी जा चुकी है; तथापि कुछ ग्राहक सज्जन ३८.०० (अड़तीस रुपये) के स्थानपर अब भी ३०.०० (तीस रुपये) ही भेज रहे हैं। इस परिस्थितिमें ८.०० (आठ रुपये) की कमी रहनेसे उन सभी ग्राहकोंको आगामी विशेषाङ्क—‘शिक्षाङ्क’ तय तक न भेजा जा सकेगा, जबतक वे शेष राशि ८.०० (आठ रुपये) भेजकर मूल्य-पूर्ति नहीं कर देंगे।

निम्नांकित परिस्थितियोंके कारण भी जो महानुभाव ३०.०० (तीस रुपये) ही भेज सके हैं, उन्हें भी चाहिये कि वे भी मूल्य-पूर्ति-हेतु शेष राशि अब कृपया अविलम्ब भेज दें।

(१) गतवर्ष (जनवरी १९८७) का विशेषाङ्क समाप्त हो जानेके पश्चात् तदर्थ प्राप्त हुए ३०.०० (तीस रुपये) आगामी वर्ष (जनवरी १९८८) के वार्षिक मूल्य-निमित्त जमा करके सम्बन्धित ग्राहकोंको सूचित कर दिया गया था।

(२) गतवर्ष (जनवरी सन् १९८७) का विशेषाङ्क हमारे यहाँसे वी० पी० पी०द्वारा भेजे जाने तथा उधरसे ग्राहकोंद्वारा शुल्क-राशि मनीआर्डरसे प्रेषित किये जानेकी दशामें प्राप्त अतिरिक्त राशि मात्र ३०.०० (तीस रुपये) ग्राहकोंको सूचित करते हुए, नियमतः आगामी वर्ष (जनवरी १९८८) के वार्षिक मूल्य-निमित्त जमा करनी पड़ी। इन दोनों ही परिस्थितियोंमें अधिकांश ग्राहकोंसे नये वर्षके वार्षिक मूल्य-निमित्त ८.०० (आठ रुपये) कम प्राप्त हुए हैं। अतएव उन सभी ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे आगामी वर्ष (जनवरी १९८८) के मूल्य-पूर्ति-निमित्त शेष राशि ८.०० (आठ रुपये) अब शीघ्र भेजनेका कष्ट करें; जिससे नया विशेषाङ्क प्रकाशित होनेपर उन्हें यथासमय अविलम्ब भेजा जा सके।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, गीताप्रेस, गोरखपुर